से तो सं. १६९१ में वृन्दावन में श्री राधावल्लभजी के विग्रह की स्थापना के पश्चात् से लेकर अष्टयाम सेवा भावना में अपनी साधना के चरमोत्कर्ष तक की अवधि में किया हुआ लीला-गान इन पदों में माना जाना चाहिए। इस प्रकार संवत् १९६१ के बाद विभिन्न समयों में रचे गये पदों का यह संग्रह है ।

'हितचौरासी' में चौदह रागों का प्रयोग हुआ है। किसी भक्त ने छंद गान में उसकी गणना स्पष्ट की है:—

छै पद विभास मांझ, सात हैं बिलावल में,
टोडी में चतुर, आसावरी में द्वै बनै ।
सप्त हैं धनाश्री में, जुगल बसंत केलि,
देवगंधार पंचदोय, रससौं सनै ।
सारंग में षोडश है चार ही मलार एक,
गौड में सुहायो नव गौरी रस में भनै ।
षट कल्यान निधि कानरे केदार वेद,
बानी हित जू की सब चौदह राग में गनै ।[†]

विभास के ६, बिलावल में ७, टोडी में ४, आसावरी २, धनाश्री ७ बसंत २, देवगंधार ७, सारंग १६, मल्हार ४ गौड-मल्हार १, गौरी ९, कल्याण ६, कानरो ९, केदार ४। इस प्रकार राग संख्या १४ में ८४ पदों का विभाजन हैं।

श्री हितहरिवंशजी के समय में ही कुछ नित्य सेवा और नैमित्तिक सेवा प्रणाली के उत्सवों का आरंभ हो चुका था, किन्तु ऐसा लगता है कि उसका प्रमाण मर्यादित था। उस समय दस उत्सवों का ही वर्णन पाया जाता है। जो इस प्रकार है–[‡]

फागु डोल चन्दन बसन, तीज हिडौले झूल ।
शरद पाटोत्सव तहां गुरु पूजा रस मूल ।।
दीपमालिका प्रतिपदा बनविहार चितचाह ।
खीचरी और वसन्त ये अपने दस उत्साह ।।

तथापि 'श्री हित चौरासी' में जागरण, मंगला, मंगला आरती, श्रृंगार आरती, राजभोग आरती, उत्थापन, संध्या भोग, शयन, मान, कुंज, वन विहार,

---

[†] *श्री हितवाणीजी (गुजराती लिपि–पृष्ठ–६४)*
[‡] *सुधर्म बोधिनी, श्री लाडिलीदास कृत–पृष्ठ–७२*

डोल के तथा वसन्त वर्षा मल्हार के तथा एक दान का पद भी प्राप्त होता है। अधिकतर केवल रास के पद ही दिखाई देते हैं। अन्य विषयक मात्र एक, दो या चार की संख्या में हैं। अतः अन्य नित्य सेवा एवं उत्सवों से संबंधित पदों की पूर्ति आपकी परवर्ती शिष्य परंपरा के भक्त कवियों द्वारा हुई है। 'हित-चौरासी में चन्दन, दीपमालिका एवं खीचरी का कोई पद नहीं है।

आप संगीत के उच्च कोटि के ज्ञाता थे। अष्टछाप के समान आप की वाणी शास्त्रीय संगीत से सुबद्ध है, किन्तु उसमें संगीतात्मक विधायक तत्त्वों के चमत्कारिक रूप की अपेक्षा काव्यात्मक संगीत का भावात्मक माधुर्य अधिक खिलता है। आपकी वाणी को अष्टछाप के स्थापक श्री विट्ठलेश्वर ने भी अपनी कीर्तन प्रणाली में उचित स्थान दिया है। कुछ पदों का समावेश किया गया है; उदाहरणार्थ—

(१) झूलत दोऊ नवल किशोर (राग-देवगंधार) ।*

(२) आज वन नीको रास बनायो ।†

(३) बेनु माई बाजे री बंशी वट ।† (राग-गौरी)

(४) देखो माई अबला के बल रास‡ (राग-मल्हार)

(५) देखो भाई सुन्दरता की सींवा (राग-मल्हार)

इत्यादि पद आज तक उसी राग में वल्लभ सम्प्रदाय में गाये जाते हैं। जिनकी संख्या लगभग १५ से कम नहीं होगी। इस प्रकार हितहरिवंशजी के पद पुष्टि मार्ग की पुरानी कीर्तनपोथियों के संग्रहों में प्राप्त होते हैं।

"हित चौरासी" के पदों में श्री हितहरिवंशजी 'ने संगीत के वाद्यों एवं कतिपय पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है वे निम्न प्रकार हैं:—

मंजीर मुरज डफ मुरली मृदंग ।
बाजत उपंग वीण वर मुखचंग ।।
ताल भेद अवघर गति सुचित नूपुर किंकिणि बाज (४८)
ताल रवाब मुरज डफ बाजत, मधुर मृदंग‡
बांसुरी मुखचंग पद –संख्या–५८)

---

* यह पद हवेली संगीत प्रणाली में 'डोल' के दर्शन में गाया जाता है।

† रास के दिनों में भोग संध्यार्ति समय क्रमशः राग नट तथा गौरी में गाये जाते हैं।

‡ इन दोनों पद का वर्षाऋतु में मल्हार के समय गान किया जाता है।

लेत गति मान ततथई हस्तक भेद
स रि ग म प ध नि ये सप्तस्वर नन्दिनी
राग रागिनी तान मान संगीत गत (पद संख्या–७१)
विकट अवधर ताल चर्चरी ताल सौं (पद संख्या–८१)

रास लीला अनुकरण का प्रचलन एवं उसके निमित्त रासमंडल की स्थापना का श्रेय भी आचार्य हरिवंशजी को दिया जाता है।

इनकी सेवा प्रणाली में श्री वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव देखा जा सकता है। वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टसमय की सेवा, शृंगार, भोग एवं संगीत कीर्तन की परिपाटी जिस समय समृद्ध हो रही थी उसी समय के आसपास श्री हरिवंशजी के सम्प्रदाय में अष्टयाम सेवा, भोग, शृंगार तथा संगीत समाज का आरंभ होना देखा जा सकता है। वल्लभ सम्प्रदाय की नित्य-सेवा में चार आरती हैं, आपने पाँच आरती की स्थापना की। वल्लभ सम्प्रदाय में अष्ट समय की सेवा है, किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में सेवासमय सात माने जाते हैं—(१) मंगला, (२) शृंगार (३) राजभोग (४) उत्थापन, (५) संध्या (६) शयन (७) शैया समय की सेवा का क्रम है।

यद्यपि समाज (कीर्तन-पद-गान) का आरंभ आपके समय में हुआ, किन्तु समाज का निश्चित रूप श्री हरिवंशजी के पश्चात् हरिराम जी व्यास के समय में होना संभावित है। अष्टयाम सेवा के समय गाये जाने वाले पद 'हित चौरासी' में कम ही हैं। सेवकजी (दामोदरदासजी) को आपका समकालीन माना जाय तो भी उनकी रचना में इस प्रकार के पद बहुत कम हैं। श्री हरिवंशजी के समय में ही अष्टयाम सेवा, शृंगार एवं नित्यविहार लीला से सम्बद्ध पदों का राग-रागिनियों में समाज-गान सम्प्रदाय का अनिवार्य अंग रूप बन चुका था किन्तु इस परिपाटी को समृद्ध एवं प्रचलित बनाने का श्रेय आपके पश्चात् की परंपरा के शिष्यों को देना समुचित होगा।

श्री हितहरिवंशजी की शिष्य परंपरा

सेवकजी–दामोदरदासजी

श्री हितहरिवंशजी की गेय पद रचनाओं के बाद इस सम्प्रदाय के भक्त कोटि के गेय-पदों के वाणीकार श्री दामोदरदास सेवकजी का नाम उल्लेखनीय है। उनकी रचना में भी छंद, चौपाई, दोहा, सोरठा इत्यादि भी प्राप्त होते हैं; तथापि आपने कुछ रागों में पद-गान भी किया है। अतः वे संगीत कला के भी ज्ञाता थे। सेवकजी की वाणी का मुख्य स्वर निकुंज लीला, विषयक एवं नित्यविहार की

अपेक्षा श्री हितहरिवंशजी का महिमा-गान है। 'हित मंगल' का पद उनकी अनन्यता का प्रतीक है।

'दामोदर हित' अथवा 'हित दामोदर' छाप के आपके कतिपय पद वल्लभ सम्प्रदाय में भी गाये जाते हैं। देखिए:—

(१) भादौं सुदि आठैं उजियारी ।

(२) नाचत प्रेम मगन नरनारी ।

उदाहरण में स्थल संकोच के कारण पदों की प्रथम पंक्ति का ही उल्लेख किया है। ये दोनों पद श्रीराधाष्टमी की बधाई के दिनों के है और हवेली-संगीत परंपरा में आज भी इनका गान किया जाता है।

हितहरिवंशजी के केवल ८४ पदों को मर्यादित संख्या में श्री सेवकजी ने अपने गेय पदों की रचना से कुछ अभिवृद्धि की जिसके कारण नित्य सेवा एवं उत्सवों पर समाज-गान में सरलता होने लगी। 'जै जै श्रीहरिवंश प्रशंसित दूनी' यह 'हित मंगल' जन्मोत्सव पर राधावल्लभीय मन्दिरों में खास गाया जाता है।*

श्री हरिराम–व्यास (व्यासजी)

व्यासजी का जन्म संवत् १५६७ का है। अन्य मतानुसार कोई १५४९ भी मानते हैं। आपका वृन्दावन आगमन संवत् १६१२ में हुआ था।

श्री वियोगी हरि एवं आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार संवत् १६२० के आसपास उनका कविता काल माना जाता है।‡ आप संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों के वक्ता होने के कारण आप "व्यासजी' की उपाधि से प्रथम ही विभूषित हो चुके थे। आप पदों की रचनाएँ जीवन पर्यन्त करते रहे। गुरु परम्परा के लिए ऐसा कहा जाता है कि आप बाल्य-काल में माधव सम्प्रदाय में दीक्षित थे परन्तु हितहरिवंशजी द्वारा प्रचलित राधाभाव की माधुर्य भक्ति के प्रति विशेष आकर्षण होने पर उन्होंने राधावल्लभीय उपासना पद्धति स्वीकार कर ली। व्यासजी के वंशजों में आज तक माधव, राधावल्लभीय और हरिदासी तीनों सम्प्रदायों की दीक्षा प्रचलित है।

---

* *इस 'मंगल' को उत्सवों पर गाने का सौभाग्य इस लेखक को अहमदाबाद–खाडिया के राधावल्लभजी के मन्दिर में आज भी प्राप्त हो रहा है।*

‡ *भक्त कवि व्यासजी*

व्यासजी की वाणी के रसपूर्ण गेय पद इन तीनों सम्प्रदायों की उपासना प्रणाली में गाये जाते हैं। इन तीनों सम्प्रदायों में कीर्तन-गान की समाज पद्धति को व्यास-वाणी की पुष्टि प्राप्त होने पर ही उन्हीं के समय में समाज की रचना का रूप स्थिर बना। यही नहीं पुष्टि सम्प्रदाय के संग्रहों में भी आप के पद उचित प्रमाण में प्राप्त होते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय की कीर्तन-परंपरा में श्री व्यासजी के जिन पदों का गान किया जाता है उसमें से कुछ उदाहरण रूप में लिखित हैं—

(१) नागरी नटनारायण गायो।

(२) स्याम सनेही गाइये

(३) आज बधाई बाजत रावलि

(४) नाचत गावत ढाढिन के संग ढाढी हुरक बजावै हो

उपर्युक्त पद क्रमशः रास, साँझी, राधाष्टमी की बधाई तथा ढाढी के पद हैं। बहुत से पद हवेली संगीत परंपरा में यथासमय गाये जाते हैं।

आप के गाये हुए गेय पदों में निम्न प्रकार के राग दृष्टिगोचर होते हैं:—

(१) भैरव, (२) विभास, (३) देवगंधार (४) खट, (५) बिलावल, (६) देवगिरी, (७) टोडी, (८) आसावरी (९) जयंतश्री, (१०) गुर्जरी, (११) सूहा (१२) धनाश्री (१३) सारंग, (१४) नट, (१५) मालव, (१६) श्री (१७) पूर्वी, (१८) मारू, (१९) गौरी, (२०) कल्याण, (२१) केदारो (२२) कामोद,† (२३) भूपाली, (२४) कान्हरो, (२५) अडानो, (२६) विहागरो, (२७) मल्हार, (२८) गौड मल्हार, (२९) वसंत तथा (३०) गुर्जरी।

तदुपरान्त अठताल, मूलताल, एकताल, चौताल, रूपकताल, जय त्रिताल एवं चर्चरी तालों के नाम प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त राग-ताल के नाम 'भक्त कवि व्यासजी' (अग्रवाल प्रेस से छपा हुआ) ग्रन्थ के आधार पर निश्चिय किये हैं। इस ग्रन्थ के संपादन में जो परिचय दिया है, उनमें प्राचीन हस्तलिखित दो प्रतियों का लिपि काल संवत् १८९४ तथा १८९६ उल्लिखित है।

---

† : *कामोद तथा भूपाली राग आपने उत्तरावस्था में गाया होगा अथवा पदों की बंदिश के आधार पर अथवा स्वेच्छा से परवर्ती भक्त गायकों ने निश्चित किया होगा।*

व्यासजी ने भक्ति-भाव में विभोर होकर राधा-कृष्ण की रसमय लीलाओं का संगीत के माध्यम द्वारा विभिन्न राग-ताल में जो उत्कृष्ट पद-गान किया है, वह आपके संगीत के उच्चतम ज्ञाता होने का स्पष्ट प्रमाण है। विविध रागों में लगभग ७५० से अधिक गेय पदों की विपुल रचना से आपने सम्प्रदाय की काव्य और संगीत कला को समृद्ध वना दिया ।

'राग-माला' नामक आपकी एक रचना का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु अप्रकाशित होने के कारण उसे देखने का सौभाग्य लेखक को प्राप्त हुआ नहीं है। तथापि 'भक्त कवि-व्यासजी' ग्रन्थ के निम्नविधान से ज्ञात होता है कि दोहा-छंदों में सरस्वती मतानुसार राग रागिनियों का वर्णन इसमें किया गया है। आरंभिक भाग इस प्रकार है:—

जा सम देवन को सदा संकर परैं सहाय ।
सदा अभय वरदायिनी "व्यास" चरन चित लाय ।।१।।
राग रागिनी आप ही रसना बुद्धि सरूप ।
ग्रन्थ राग निर्णय उदित, होवै परम अनूप ।।२।।
बहु मत बूझ विचारि कैं, मत सरस्वती मानि ।
सब गुणदायक स्वामिनी, सब लायक जगरानि ।।३।।
राग रागिनी गान जुत होवै अंग समेत ।
सुर औ ताल प्रमान तैं गावैं सुने सुनेति ।।४।।
भैरवादि षट राग हैं, रागनीय इकतीस ।
"व्यास" कहैं रागांग जुत, सोहै मोहै ईस ।।५।।
भैरव की तिय पांच हैं प्रथम भैरवी जानि ।
अरु बिभावरी गूजरी, गुनकरीय सुभ मानि ।।६।।
पुनि बिलावलि रागनी, भैरव की सुखदानि ।
"व्यास" कहत मत भारती, गायौ जाय सुमानि ।।७।।

अंतिम भाग में (मिती) ज्येष्ठ मासे शुक्ल पक्षे द्वादशी रविवासरे संवत् १८५५ मुकामु ठहरी लिखितं लक्ष्मणदास वैश्य

सरस्वती मत के सम्बन्ध में विचार

१. उपर्युक्त रागमाला को सम्प्रदाय के सभी लेखकों ने सरस्वती मत अनुसार कहा है। तीसरे दोहे की प्रथम पंक्ति के 'मत सरस्वती' मानि इस उल्लेख के आधार पर सरस्वती मत की मान्यता प्रचलित होना संभावित हैं। किन्तु

हमारी दृष्टि से प्राचीन चार मतों में सरस्वती मत का कोई विधान प्राप्त नहीं होता।

२. "मत सरस्वती" के स्थान पर मात सरस्वती होना सुसंगत होगा। क्योंकि प्रारंभ के तीन दोहे मात सरस्वती की स्तुति के संदर्भ में ही दिखाई देते हैं। जो अभय वरदायिनी, सब गुणदायक, स्वामिनी, सब लायक, जगरानी शब्द प्रयोग से स्पष्ट होता है। अत: "मात" के स्थान "मत" शब्द लिपिकार की दृष्टि-चूक संभावित है।

३. इस प्रकार पाँचवें दोहे की प्रथम पंक्ति में 'रागनीय इकतीस' में राग-नीय कहि तीस' होना चाहिए। इस प्रकार के लिपि-दोष प्राचीन अन्य संग्रहों में भी अनेक स्थानों पर दिखाई देते हैं।

४. संगीत शास्त्र ग्रन्थों में रागिनियों की ३१ संख्या का विधान प्राप्त नहीं होता है। भारतीय चारों मतों में—छह राग और ३० रागिनियाँ तथा छह राग और ३६ रागिनियों का ही वर्णन किया हुआ है। अत: "इकतीस' शब्द प्रयोग लिपिकार की भूल से होना संभावित है।

५. संगीत के शास्त्र ग्रन्थों में चार मतों में प्रथम के दो मतों के अनुसार रागिनियों की संख्या ३६ है किन्तु तीसरे 'भरत' मत में ३० की संख्या सुप्रसिद्ध है। श्री व्यासजी ने सातवें दोहे में स्पष्ट कहा है कि व्यास कहत मत भारती गायो जाय सुमानि ॥७॥

६. तदुपरान्त भरत मत में ही छह रागों में प्रथम भैरव राग का उल्लेख हुआ है। तदनुसार व्यासजी ने भी प्रथम भैरव राग से ही आरंभ किया है।

उपर्युक्त कारणों से हमारी मान्यता उचित प्रतीत होती है।

श्री व्यासजी उच्चकोटि के विद्वान्, संगीतज्ञ एवं गायक भी थे। उस समय की द्रुपद-गान शैली की मान्यतानुसार ही आपने पद-गान किया है। ध्यान रहे कि आपने 'रागमाला' ग्रन्थ में जिन राग-रागिनियों का नामोल्लेख किया है उन सभी रागों में आपने पद-गान किया नहीं है। आपने अन्य रागों में गान क्यों नहीं किया; इस शंका का समाधान 'राग संख्या' प्रकरण में किया जायगा।

आपने पदों में वाद्य-यंत्रों के नामों का प्रयोग भी किया है। जैसे:—वीणा, रवाब, वेणु, सहनाई, मुखचंग, भेरि, मुरली, डफ, मृदंग, दुदुंभी, ढोल, रुंज, मुरज, आवज, दमामा, ताल, करताल इत्यादि तदुपरान्त संगीत के पारिभाषिक शब्द भी विविधि प्रसंगों के पदों में अनेक स्थान पर पाये जाते हैं।

श्री चतुर्भुजदास

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में हितहरिवंशजी के पश्चात् उनकी शिष्य परंपरा के श्री सेवकजी और श्री व्यासजी के लगभग समकालीन चतुर्भुजदास भी हो गये हैं। ध्यान रहे कि ये चतुर्भुजदास अष्टछाप के चतुर्भुजदास से पृथक् हैं। इन चतुर्भुजदास-रचित द्वादश यश-गाथायें प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त रागों में गाये जाने वाले कुछ फुटकर पद भी उपलब्ध होते है। जिसकी संख्या विशेष नहीं है।

श्री द्रुवदास

श्री द्रुवदासजी का जन्म समय राधावल्लभीय भक्तमाल के अनुसार संवत् १६२२ का है। रचना-काल संवत् १६५० से १६९८ तक माना जाता है। वंश के विषय में प्रसिद्ध है कि:— विट्ठलदास (द्रुवदास के पितामह) श्री हितहरिवंशजी के शिष्य थे। जूनागढ़ स्टेट में दीवान थे। द्रुवदास के पिता श्यामदास भी भक्त पुरुष थे। उन्होंने हितजी के पुत्र गोपीनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी। विट्ठलदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु जूनागढ़ में उसी दिन हुई जिस दिन वृन्दावन में हितहरिवंशजी का निकुंज-गमन हुआ। द्रुवदास राधावल्लभीय परंपरा के जन्मगत संस्कारों के कारण १० वर्ष की आयु में ही वृन्दावन चले गये थे। आपने हितजी के तृतीय पुत्र गोस्वामी गोपीनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी।

इष्टाराध्या राधा से वरदान होने पर द्रुवदासजी निरंतर पद-रचना में मग्न रहते थे। काव्य-रचना, छंदशास्त्रादि के प्रति आपकी नैसर्गिक अभिरुचि थी। इस परिपाटी के अनुसार शुद्ध रसात्मक काव्य-रचना ही आप का ध्येय रहा है। आपने अपने ग्रन्थों का नाम 'लीला' रक्खा है। इस प्रकार ४२ ग्रन्थों के संकलन युक्त ग्रन्थ का नाम 'ब्यालीस लीला' रखा गया है। इनमें स्मृति, पुराण आदि शास्त्रों का तत्वसार एवं लीलाओं का संकलन किया गया है।

नित्य विहार एवं निकुंज लीला-परक गेय पदों की रचना भी प्राप्त होती है। अधिकतर दोहे, कुंडलियां छंद इत्यादि में विपुल रचना की है। ब्यालीस(४२) लीला के उपरान्त "भक्त नामावली" भी आपकी एक रचना है। राधा-कृष्ण की रसमय-लीला-वर्णन के पद राग-रागिनियों में भी आपने गाये हैं। इन स्फुट पदों की संख्या १०३ मानी जाती है। जिनमें "व्याहुलो", पियाजी की नामावली एवं अष्टयाम सेवा के उपयुक्त जैसे शृंगार समय के, स्नान समय के, उत्थापन समय के इत्यादि के पद। पूर्व के हितहरिवंशजी तथा व्यासजी की शैली में राग-विधान किया गया है। सूरदासादि अष्टछाप का प्रभाव भी दिखाई देता है।

नेही नागरीदास

राधावल्लभ सम्प्रदाय के नागरीदास "नेही" उपाधि के कारण अन्य नागरीदास से अलग हो जाते हैं। भागवत मुदित के पदों में आपका चरित लिखा है। स्वामी

चतुर्भुजदास के सत्संग से घरबार छोड़कर वृन्दावन चले आये और गोस्वामी बनचंद्रजी से दीक्षा ली । आपका समय चतुर्भुजदासजी और ध्रुवदासजी के कुछ समकालीन (संवत् १५९० से १७ वीं के मध्य तक) माना जाता है ।

आपकी रचनाओं में 'सिद्धान्त दोहावली' में भक्ति-सिद्धान्त के ९३५ दोहे हैं तथा "रस पदावली" में स्फुट पद सहित २३२ पद संख्या उपलब्ध होती है । नित्य-विहार एवं ऋतु-वर्णन के पदों में आपके पूर्ववर्तियों की परिपार्टी के अनुसार रागों में वर्णन किया गया है । पदावली में रास-सम्बन्धी पदों में संगीतात्मकता दिखाई देती है । आपके पदों की वाणी मधुर है ।

श्री अनन्य अली

अनन्य अलीजी का पूर्व नाम भगवानदास था । जो गोविन्ददास से दीक्षा लेकर जीवन भर अविवाहित रहे । जन्म संवत् १७४० और वृन्दावन-आगमन का समय १७५९ माना जाता है । ध्रुवदास की कुटी के समीप वृन्दावन में रहकर आप पद-रचनाएँ करते रहे । पद-रचना काल संवत् १७५९ से १७९० तक है ।

आपकी वाणी का विस्तार विपुल है। अधिकतर रचनाएँ कवित्त, दोहे, सवैया, चौपाई, इत्यादि में पाई जाती है । यही नहीं अष्ट-याम सेवा-भावनानुसार नित्य-विहार के राग-बद्ध पद भी प्राप्त होते हैं । आपकी वाणी में माधुर्य एवं प्रसाद का सुन्दर योग दृष्टिगत होता है ।

श्री रसिकदासजी

श्री रसिकदासजी नामक महानुभाव राधावल्लभ सम्प्रदाय में चार-पांच हो गये हैं ।‡

(१) प्रथम रसिकदासजी का समय संवत् १६५० से १७०० तक के समीप कहा गया है ।

(२) मोरी सखीजी के साथी हैं । मोरी सखी का समय संवत् १७२० से १८०० के आसपास का माना गया है ।

(३) लाडलीलाल के साथी थे । लाडिलीलाल का समय १७८० से १८५० तक का कहा गया है ।

(४) चन्द्रसखी की गद्दी पर बैठने वाले महानुभाव हैं । चन्द्रसखी का मंदिर वृन्दावन में है । इनकी शिष्य परंपरा भी उपलब्ध होती है ।

---

‡ *अधिक विवरण देखिए—"राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य" ।*

(५) इनके परिचय का छप्पय चाचा वृन्दावनदास ने लिखा है । वे गोस्वामी धीरीधरजी के शिष्य थे । धीरीधरजी का समय १६७० से १७६० का माना जाता है । अतः इन रसिकदासजी का रचना काल १७४३ से १७५३ तक का ठहरता है । इन्होंने रचनाओं का नाम "लता" रखा है जैसे–अद्भुत-लता, रहस्य-लता, विनोद-लता इत्यादि ।

उपर्युक्त सभी रसिकदास की रचनाओं में छंद, छप्पन, कवित्त, चौपाई इत्यादि की अपेक्षाकृत संगीतात्मक गेय-पदों का अधिक कम प्रमाण पाया जाता है ।

श्री वृन्दावनदासजी (चाचाजी)

श्री चाचाजी वृन्दावनदासजी का जन्म संवत् १७५० से १७६५* के बीच का माना जाता है। संवत् १८०० के लगभग आपकी काव्य-रचना का प्रारंभ हुआ यह कहा जाता है। संवत् १७९४ में आप वृन्दावन आ चुके थे, और इससे पूर्व गोस्वामी रूपलालजी से दीक्षा प्राप्त की थी। कहा जाता है कि तात्कालिक गोस्वामीजी के पिता के गुरु-भ्राता होने से गोस्वामीजी की देखादेखी सम्प्रदाय के लोग उन्हें भी चाचाजी कहने लगे थे। आपकी वाणी में आपकी छाप 'वृन्दावन हित' और 'वृन्दावन हित रूप' छाप में गुरु रूपलालजी का नाम जोड़ लिया गया है। तीसरी छाप केवल 'वृन्दावन' नाम से भी प्राप्त होती है किन्तु आपके अनेक पदों के संबंध में कुछ अन्य की रचना होने का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में चाचाजी की वाणी का जितना व्यापक विस्तार एवं विपुल परिमाण प्राप्त होता है उतना उनके पूर्व किसी का नहीं। संगीत से जहां तक संबंध है वहां कहना चाहिए कि आपकी वाणी में गेय पदों की सहस्रावधि संख्या कई रागों में निबद्ध की हुई है। तत्पूर्व के भक्तों की रचना में रागों की संख्या मर्यादित थी। आपने तत्कालीन अष्टछाप परंपरा में गाये जाने वाले रागों को दृष्टि में रखकर राधावल्लभ सम्प्रदाय की राग-संख्या को समृद्ध बना दिया। उसी प्रकार प्रत्येक दिन की अष्टयाम सेवा को दृष्टि में रखकर नित्य विहार तथा त्यौहारादि भावानुसार समय-समय के पदों की रचनाओं की जो अपूर्ति थी उसकी पूर्ति आपके द्वारा हुई। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के राग-बद्ध गेय पदों अर्थात् साहित्य-संगीत की भगीरथ गंगा बहाने का श्रेय चाचाजी को ही दिया जा सकता है। आपकी अधिकतर रचनाएं छंद, दोहे कवित्त इत्यादि में होते हुए भी वल्लभसम्प्रदाय को छोड़ पर अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की अपेक्षा राग-ताल बद्ध तथा ऋतु एवं समयानुसार के लगभग १२००

श्री रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास " में १७६५ दिया गया है। 'लाड-सागर'-प्रकाशक लाला जुगलकिशोर-भूमिका पृष्ठ ४ में १७४४ के आसपास लिखा है।

से अधिक पद लेखक को दृष्टिगोचर हुए हैं। जिनमें प्राचीन शैली के द्रुपद-धमार इत्यादि की स्पष्ट झाँकी होती है। हमारी मान्यतानुसार चाचाजी की पद-रचना शैली एवं राग-रागनियों के चित्र पट पर अष्टछाप परंपरा का प्रभाव होना उचित कहा जायगा।

आपके गाये हुए रागों की संख्या लगभग ४२ प्राप्त होती है; जिनका 'लाड सागर' में आपने प्रयोग किया है। शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से ये पद विभिन्न रागों में गाए जाते हैं। राधावल्लभीय समाज गान में आपकी संगीत-बद्ध वाणी के गेय पदों के गान की परिपाटी दिखाई देती है।

राधावल्लभीय-समाज-गान

समाज-गान के संबंध में डॉ. विजयेन्द्रजी ने लिखा है कि—जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के गुणानुवाद के लिए कीर्तन प्रणाली है उसी प्रकार यहां समाज की व्यवस्था है। वल्लभ सम्प्रदाय में पुजारी ही मुखिया कहलाता है* तथा जो कीर्तन करता है वह कीर्तनिया कहलाता है। किन्तु यहाँ समाज का प्रधान गायक मुखिया कहलाता है। प्रधान गायक का शेष समाजी अनुगमन करते हैं। अन्तरंग में प्रिय प्रियतम जो लीला करते हैं और सखियां उस समय जिस भाव का पद गान करती हैं, बहिरंग समाज में उसी भाव का पद समाजी गाते हैं

सम्प्रदाय के विभिन्न उत्सवों पर नाना प्रकार की राग रागनियों का विधान है। नित्य-विहार की जिस लीला से सम्बद्ध पदों का गान होता है और उसमें जिस वेश विन्यास का वर्णन होता है उसी के अनुकूल श्रीजी का शृंगार किया जाता है। समाज में गान करने के लिए समस्त उत्सवों के अनुसार पदों का चयन किया हुआ है। वे ही पद उत्सव के समय गेय समझे जाते हैं जो प्राचीन परंपरा से चले आ रहे हैं। इसमें यथासमय सुन्दर पदों का समावेश होता रहता है। यह पद संग्रह वर्षोत्सव कहलाता है। ऋतुओं के अनुसार छह वर्षोत्सव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है।‡

राधावल्लभीय-अष्टयाम सेवा

राधावल्लभीय सेवा प्रकार में पांच आरती और सात समय माने गये हैं। इनका सारांश निम्न प्रकार है—

---

* *वल्लभ सम्प्रदाय में भी प्रधान कीर्तनकार को मुखिया ही कहा जाता है। यह ध्यान में रखना चाहिए।*

‡ *'राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य 'पृष्ठ-२५४*

१. मंगला समय:—दो घड़ी रात्रि रहे से दो घड़ी दिन चढ़े तक का समय। इस समय में श्रीजी को जगावे, मुख प्रक्षालन करावे। अनन्तर प्रात:काल का कलेवा (मंगल भोग) करे। इस समय की आरती को मंगला आरती कहते हैं।

२. श्रृंगार:—दो घड़ी दिन चढ़े से बारह घड़ी दिन चढ़े तब-तक श्रृंगार समय है। इस समय में स्नान-उबटन एवं आभूषण वस्त्रादि, मुकुट इत्यादि धारण कराये जायें। बाद में धूप आरती की जाय। श्रृंगार भोग उपरान्त आरती करें।

२. राजभोग:—बारह घड़ी दिन चढ़े पीछे छह घड़ी दिन रहे तक।* इस समय में दोपहर का भोजन राजभोग कहलाता है। कम से कम आध घंटा भोजन का थाल रख कर भोग उतार कर ताम्बूलादि रखा जाय। अनन्तर विश्राम (शयन) की बेला है। विश्राम के पूर्व राजभोग आरती की जाय।

४. उत्थापन:—छह घड़ी दिन पीछे से सायंकाल पर्यन्त।

५. संध्या:—उत्थापन में विश्राम से उठना होता है। जागने पर मुख-प्रक्षालन एवं मेवा-फल आदि सामग्री रखे, इस समय उत्थापन की धूप आरती होती है। अनन्तर वन-विहार को जावे। संध्या समय या विहार से लौटने पर संध्या भोग होता है। स्वल्प भोजन के बाद संध्या आरती होती है।

६. शयन:—यह समय रात्रि पीछे शयन समय घड़ी दो का है। इस समय में रात्रि भोजन प्रस्तुत किया जाता है। बाद में शयन आरती होती है।

७. शैया:—आठ घड़ी रात्रि गये पीछे घड़ी बीस का समय। इस समय शैया पर पधारने की भावना की जाती है। इसके बाद प्रभात तक निद्रामग्न रहें।। (शैया के निकट परिश्रान्त होने पर) शैया भोग की सामग्री ग्रहण करे।

राधावल्लभ सम्प्रदाय की समाज (भजन) प्रणाली में संगीत का शास्त्रीय रूप का आरंभ आद्याचार्य के समय से हुआ है परन्तु हितहरिवंशजी ने चौदह रागों में ही गान किया है। बाद में व्यासजी, ध्रुवदासजी, चर्तुभुजदासजी, अनन्य अली, रसिकदास आदि परवर्ती भक्तों ने रागों के अनुसार अष्टयाम सेवा की प्रणाली के अनुकूल पद रचना की है। इन भक्तों का परिचय हम पीछे दे चुके हैं । अष्टयाम सेवा में गाये जाने वाले पदों का पूर्ण रूप चाचा वृन्दावनदासजी के समय में ही पाया जाता है। रागों की संख्या भी इनके पूर्व सीमित रूप में ही पाई जाती है। इस सम्प्रदाय में गाये जाने वाले कुछ राग वल्लभ सम्प्रदाय की पद्धति से मिलते-जुलते होते हैं तथापि बंदिश की दृष्टि से कुछ रागों के स्वर-स्वरूप और गान-

---

** पक्का भोजन जैसे पूरी, मोहन भोग, कचौरी, हलुआ इत्यादि।*

शैली की भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। सम्प्रदाय के परंपरागत समाज गान के संगीत से पूर्ण परिचित गायक समाजी कम होते जा रहे हैं। फलतः आज गिनती के समाजी दृष्टिगत होते हैं। इनमें भी 'संगीत-की दृष्टि से ह्लास के लक्षण नजर आने लगे हैं।*

रास-परंपरा का आरंभ

श्रीमद्भागवत दशमस्कंध के (29 से 33) पाँच अध्यायों को 'रासपंचाध्यायी' भागवत का प्राण समझा जाता है। श्री कृष्ण के मन में रास करने की इच्छा हुई। समस्त-वन प्रदेश अनुरंजित हो उठा। श्रीकृष्ण ने वंशी नाद का प्रारंभ किया। गोपियाँ तन मन की सुध भूल श्रीकृष्ण के समीप उपस्थित हुई। श्रीकृष्ण ने ने वापिस लौटने का उपदेश दिया किन्तु गोपियों ने किसी मर्यादा को स्वीकार नहीं किया। तब आनंदपुलकपरिपूर्ण होकर मंडलाकार होकर रास रचाया। इसमें भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि संयोग शृंगार के वर्णन से सामान्य पाठक को यह लीला कामप्रेम की शृंगारमयी होने का भ्रम हो सकता है, किन्तु विभिन्न भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यो ने अपनी निष्ठानुसार रासलीला को ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, योगमार्ग और भक्तिमार्ग की सरणि माना है। लौकिक शृंगार या काम चेष्टा का किंचित् आधार भी उसमें गृहीत नहीं हुआ। अतः भागवत-वर्णित रास-लीला को किसी ने लौकिक काम वासना प्रेरक नहीं माना। सुबोधिनी में रास प्रकरण के आरंभ की टीका में श्री वल्लभाचार्यजी ने कहा है:-

ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानन्द योजते।
लीलया युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनिरूप्यते ।।

भगवान ने ब्रज में लीलाएं इसलिए कीं कि मुक्त जीवों का, ब्रह्मानंद से उद्धार होकर उन्हें भजनानन्द मिले। इस प्रकार लौकिक विषयानन्द तथा काव्यरस से इतर रसरूप श्रीकृष्ण (रसो वै सः) के संसर्ग की लीलाओं में जो रस-समूह का मिलन है, वह रास है। रास क्रीड़ा द्वारा मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है, देह द्वारा प्राप्त अनुभव से नहीं।‡

श्रीकृष्ण की लीलाओं को आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों प्रकार से भक्तजनों ने हृदयंगम किया है। इनमें रास लीला का स्थान भी आध्यात्मिक दृष्टि से मानने वाले कुछ विद्वानों का मत है कि वेद में भी शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के रूप में रास लीला के स्वरूप का विचार प्राचीन काल से ही होता आया है।

** राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य-पृष्ठ-५८७*

‡ अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय से उद्धृत।

लीला के समस्त रूप भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए ही रास लीला का प्रसंग है। गोपियां[*] वेद की ऋचाएं हैं और जिस प्रकार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार ऋचा रूपी गोपियों का और भगवान् का सम्बन्ध भी नित्य है। इसी का नाम 'नित्य रास लीला है।'

ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि में भगवान श्रीकृष्ण 'तत्' हैं और गोपांगनाएँ "त्वं" पदार्थ हैं। यथार्थ में अन्तरंग दृष्टि से यह जीव और ब्रह्म का अद्भुत संयोग ही है।

योगशास्त्र के आधार पर चलने वाले कहते हैं कि "अनाहत' नाद ही भगवान् की वंशी-ध्वनि है, अनेक नाड़ियां ही गोपिकाएँ हैं, कुल-कुण्डिलिनी श्री राधा हैं, सहस्रदल कमल ही सुरम्य वृन्दावन है। जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा जहाँ पहुंच कर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियां सुरम्य रास रचती हुई नृत्य करती हैं।[‡]

आत्म शक्ति की विभिन्न लीलाओं का आध्यात्मिक अर्थ मानने वाले विद्वानों के अनुसार गो का अर्थ इंद्रिय अर्थात् गोप या गोपी का अर्थ इन्द्रियों की रक्षा करने वाला कृष्ण आत्मा के प्रतीक है जो बंशी ध्वनि से, संगीतादि स्वरों से गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियां या वृत्तियां एकमन और एकप्राण होकर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं, वैसे ही गोपियां वंशी-ध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। पश्चात् रास लीला का नृत्य आता है, जो कृष्ण-सान्निध्य करा देता है—मनोवृत्तियां आत्मा में लीन हो जाती हैं।[θ]

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के रासपंचाध्यायी प्रकरण के संबंध में व्यक्त किये हुए मार्मिक विचारों में रास की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार प्राप्त होती है। जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे, एक रस ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन और उद्दीपन के रूप से क्रीड़ा करे—उसका नाम रास है। भगवान् की यह दिव्य लीला भगवान् के दिव्य धाम में दिव्य रूप से निरंतर हुआ करती है।[θ]

---

[*] *अष्टछाप के भक्त छीतरस्वामी के पद-गान में 'जे वे गोपवधू हीं ब्रज में, सो अब वेद ऋचा भइ एह'कथन का यहीं भावार्थ है। (देखिये–'जे वसुदेव किये पूरन तप' सारंग राग की बधाई में।)*

[‡] *कल्याण, अगस्त १९३१ (लेखक बलदेवप्रसाद मिश्र)*

[θ] *राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य से उद्धृत।*

श्री सनातन गोस्वामी ने भी रास लीला को काम-विहीन माना है और आह्लादिनी शक्ति का अनादि विलास कहा है।

आह्लादिनी शक्ति के साथ विलास, सर्वशक्तिमान परिपूर्ण परतत्त्व का पराख्या शक्ति के साथ जो चिद्लास है उसी को रास कहते हैं। इस लीला में अपूर्व नृत्य, गीत, वाद्य आदि का आयोजन तथा विविध भावों का योग रहता है।θ

तत्त्व चिन्तकों ने इस प्रकार रास लीला का तात्त्विक दृष्टि से विचार किया है। रास लीला में अंतरंग और बहिरंग, दोनों रहस्य है। बहिरंग का अभिप्राय है कि जब तक काम को पूर्ण रूप से विजय न कर ले तब तक रास लीला देखने का अधिकारी नहीं होता। श्रीधरस्वामी ने भी रासपंचाध्यायी को निवृत्तिपरक बताते हुए लिखा है—

'श्रृंगाररसकथोपदेशेन विशेषतोनिवृत्तिपरेयं पंचाध्यायी।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में उपर्युक्त तत्त्व चिन्तकों के प्रतीकार्थों की स्वीकृति नहीं है। इस सम्प्रदाय की मुख्य मान्यता यह है कि राधा को प्रमुदित रखना ही उनका ध्येय है। राधिका की अंशभूता अन्यान्य गोपिकाओं को रास में एकत्र कर प्रकारान्तर से इष्टदेवी राधा को प्रमुदित करने का यह एक क्रीड़ा-कौतुक है। रास का निजधाम वृन्दावन है।

वल्लभ सम्प्रदाय में रास के तीन रूप माने जाते हैं:—

१. नित्य रास २. अवतरित या नैमित्तिक रास, ३. अनुकरणात्मक रास–यह दो प्रकार का होता है। (क) भावनात्मक या मानसिक (ख) देहात्मक। गोलोक में अथवा निजधाम वृन्दावन में भगवान श्रीकृष्ण अपने आनंद-विग्रह से अपनी आनंदप्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रस-रास मग्न रहते हैं। उनकी क्रीड़ा अनादि और अनंत है यही भगवान् का नित्य रास है।*

चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने एवं वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप भक्तों ने अधिकांश भावनापरक रासलीला का ही वर्णन किया है। यही नहीं हितहरिवंशजी के भी हित चौरासी में भावनापरक लीला का ही वर्णन किया है। किन्तु वैष्णवाचार्यों ने जीवों को प्रेम पथ पर ले जाकर विषयानंद से हटा कर रस रूप लीला रूप भजनानंद भक्ति द्वारा सांसारिक जीवों के कल्याणार्थ भौतिक रूप में रास लीला का अनुकरण अभीष्ट मानकर अनुकरणात्मक रास लीला का आविष्कार किया।

θ राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य से उद्‌धृत।

" अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ-४९७

यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सोलहवीं शताब्दी से पहले ही रास का अनुकरण भारत के अन्य भागों में आरंभ हो गया था किन्तु ब्रजमंडल में पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशाब्द के पहले का कोई ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री घमंडदेवाचार्य को रास लीलानुकरण का आदि प्रवर्तक ठहराते हैं, किन्तु समालोचकों के मतानुसार उनका आविर्भाव संवत् १४५९ का माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका प्रवर्तकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

केलिमाला पुस्तक के सम्पादक आचार्य छबीलेलालजी ने स्वामी हरिदासजी को रास लीला प्रवर्तक लिखा है। कहा जाता है कि रास लीला का प्रारंभ भी स्वामीजी ने ही किया था। श्री स्वामी हरिदासजी एवं वल्लभाचार्य महाप्रभु ने मंत्रणा करके माथुर चतुर्वेदियों के आठ बालक माँग कर मथुरा में विश्राम घाट पर रास लीला का सर्व प्रथम आयोजन किया। स्वामीजी ने श्री राजेश्वरी का श्रृंगार किया और वल्लभाचार्यजी ने श्री श्यामसुन्दर को सजाया। इस रास लीला का मुकुट श्री स्वामीजी ने घमंडदेव को प्रदान किया और करछला जाकर रास लीला का संगठन करने की उन्हें प्रेरणा दी। घमंडदेवजी द्वारा ही रास लीला का प्रचार हुआ।*

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायियों के मतानुसार वृन्दावन में जो सबसे प्राचीन रास मंडल उपस्थित है वह गोस्वामी श्री हितहरिवंशजी द्वारा संवत् १५९१ में स्थापित किया गया है। इस स्थान में श्री हितजी के साथ स्वामी हरिदास तथा हरिराम व्यासजी सम्मिलित होकर इन लीलाओं में आनंद लाभ करते थे।

डॉ.** दशरथ ओझा अपने शोध ग्रन्थ में लिखते हैं कि उस समय वृन्दावन के लता कुंजों में स्थित साधुओं के पर्ण कुटीर साहित्य के उद्भट कृष्ण भक्त आचार्यों के आवास बन रहे थे। स्वामी वल्लभाचार्य और हितहरिवंशजी के पर्ण कुटीरों में भक्तों की भीड़ लगती थी। तानसेन के गुरु स्वामी हरिदासजी भी वहीं आकर बस गये थे। इन आचार्यों में एक आचार्य ऐसे थे जो राधाजी के परम उपासक थे यह थे महात्मा हितहरिवंश। इस सूक्ष्म तत्त्वदर्शी महात्मा को सेवा कुंज में नित्य राधा कृष्ण का रास विहार दृष्टिगोचर होता था।

एक दिन रास का प्रसंग छिड़ा। भक्तों में जिज्ञासा हुई कि आचार्य जी को वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण का रास विहार दिखाई पड़ता है वह किस प्रकार का है। आचार्य हरिवंशजी ने घमंडीलाल (घमंड देव) महात्मा को बुलाया उनको और स्वामी हरिदास को कुछ निर्देश किया। रास लीला में दृष्टिगोचर होने वाली

---

* श्री केलिमाल पृष्ठ-१७ (आचार्य छबीलोवल्लभजी—सम्पादित)

** हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास-पृष्ठ-९९-१००

छबि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वयं हितहरिवंशजी ने किया। रासमंडल की तैयारी हुई। श्री हितहरिवंशीजी का 'आज बन नीको रास बनायो' पद प्रस्तुत किया गया। स्वामी हरिदासजी एवं अन्य महात्माओं ने भी संगीत में योग दिया। हितहरिवंशजी के साथ श्री वल्लभाचार्य तथा गदाधर भट्ट भी थे। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी में इन आचार्य महात्माओं ने सर्व प्रथम रास मंडल रचाया। जिसमें नृत्य, संगीत एवं नाट्य को स्थान मिला।

रास लीला से संबंधित उपर्युक्त विधानों से ज्ञात होता है कि रास लीलानुकरण-प्रवर्तन का समय १५९१ है तथा प्रवर्तक श्री हितहरिवंशजी के साथ स्वामी हरिदासजी तथा श्री वल्लभाचार्य एवं घमंडदेव स्वामी का सहयोग कहा गया है। किन्तु श्री वल्लभाचार्यजी का समय संवत् १५८७ तक का ही है। तथा घमंडदेव स्वामी की उपस्थिति के समय में भी मतभेद पाये जाते हैं। अतः परंपरागत अनुश्रुति के अतिरिक्त किसी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव से स्वामी हरिदासजी या हित हरिवंशजी का रासलीला के संस्थापक होना लेखक को मान्य है। क्योंकि श्री वल्लभाचार्यजी की इस समय उपस्थिति ही नहीं थी। कदाचित् आप के पुत्र श्री विट्ठलेश्वर का सहयोग होना और आपको वल्लभाचार्य समझकर उल्लेख करना संभावित है। परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में रास का इतना महत्व नहीं है, जितना श्री हरिवंशजी के और श्री हरिदासजी के सम्प्रदाय में रास लीला का आग्रह पूर्ण महत्व पाया जाता है।

हमारी मान्यता यह है कि श्री हितहरिवंशजी को संस्थापक मानने में कोई बाधा नहीं है, परन्तु प्रवर्तकों का श्रेय श्री घमंडदेव स्वामी तथा श्री व्यासजी को ही दिया जायगा।

श्री हितहरिवंशजी ने और श्री हरिदास स्वामी ने रासानुसरण की आरंभिक स्थापना अवश्य की, किन्तु इन दोनों आचार्यों की वाणी में रासानुकरण की विविध लीलाओं के लिए पदों में पर्याप्त सामग्री दिखाई देती नहीं है।

आप दोनों आचार्यों की वाणी में रास लीलापरक पदों की संख्या रासानुकरण लीलाओं की प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। अतः आपको अष्टछाप महानुभावों द्वारा रचित रास लीला के पदों का प्रयोग करना पड़ा हो अथवा सहयोग की दृष्टि से प्रयोजित किये हों। अन्यथा रास लीला की संस्थापना का स्वरूप ठीक रूप से कैसे हो पाता ?

दूसरा यह भी है कि इन दोनों आचार्यों की वाणी में लीला प्रतीकरूप और शुद्ध भावनापरक आध्यात्मिक है। चैतन्य महाप्रभु एवं श्री वल्लभाचार्यजी के अष्टछापादि अनुयायियों ने भी भावनापरक रास लीला का ही अधिकांश वर्णन किया

है। अत: अभिनयात्मक लीला के स्थूल अनुकरण पर किसी ने विशेष बल दिया नहीं है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार यह राधा-कृष्ण लीलानुकरण पहले से चला आ रहा था उसी को श्री हितहरिवंशजी ने पुनर्जीवित किया। यह मान्यता भी निर्मूल नहीं है। रासलीलानुकरण के संबंध में विवाद प्रचलित हो गये हैं। हमारी दृष्टि से ब्रजवृन्दावन की रास लीलानुकरण परंपरा की स्थापना श्री हरिदास स्वामी के एवं अन्य भक्तों के सहयोग से श्री हितहरिवंशजी ने की। इस प्रकार श्री हितहरिवंशजी को संस्थापक कहना ठीक होगा किन्तु उसका प्रवर्तन व्यासजी ने ही श्री घमंडदेव स्वामी एवं अन्य समकालीन भक्तों की सहायता से किया। व्यासजी के समय तक रासानुकरण लीला अपने स्थूल स्वरूप में स्थिर हुई। व्यासजी के अतिरिक्त नारायण भट्ट भी प्रवर्तक या पोषक समझे जाते हैं, जिन्होंने संवत् १६२६ के बाद प्रियाजी का वेष धारण करके ब्राह्मण बालकों को प्रवृत्त किया ऐसा कहा गया है।

प्रभुचरण गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी

पुष्टिमार्ग के स्थापक श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के पश्चात् आपश्री के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथजी पुष्टिमार्ग के द्वितीय आचार्य हुए। श्री विट्ठलनाथजी का जन्म संवत् १५७२ (ईसवी सन् १५१६) में (ब्रज) पौष कृष्ण ९ को प्रयाग के निकट चरणाट में हुआ था। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथजी के नित्य लीला प्रवेश के पश्चात् आपको पुष्टिमार्ग का आचार्यत्व प्राप्त हुआ। संवत् १६०० (ईसवी सन् १५४४) में आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता की स्मृति में प्रथम ब्रजयात्रा की।

श्री गोपीनाथजी के समय तक श्रीमद्वल्लभाचार्य जी द्वारा निर्मित श्रीनाथजी की सेवा-विधि, जो सामान्य रूप में होती रहती थी, चलती रही। श्री विट्ठलनाथजी ने सम्प्रदाय के विकासार्थ व्यापक रूप में सेवा बढ़ाने का विचार किया। आपको बाल्य-काल से ही कुंभनदास, परमानंददास और सूरदास जैसे महान् भक्त संगीताचार्यों द्वारा संगीत के राग-तालादि के संस्कार प्राप्त हो चुके थे। संगीत के प्रति अत्यंत अभिरुचि के कारण संगीत के शास्त्र-ग्रन्थों का भी आपने अध्ययन किया था, ऐसा दृष्टिगत होता है। सम्प्रदाय की सेवा के मुख्य अंग रूप राग (संगीत), भोग (सामग्री) और श्रृंगार कलाओं में से सर्वप्रथम राग के उत्कर्ष हेतु 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ के आधार पर आपने अष्ट संगीताचार्यों की संख्या नियत करने का विचार किया। उस समय संगीताचार्य की कोटि के श्री वल्लभाचार्यजी के चार सेवक* और आपके तीन** सेवक उपस्थित थे अत: अष्ट की पूर्ति के लिए विष्णुदास छीपा को आज्ञा की गई। इस प्रकार आपने श्रीजी के सम्मुख अष्ट कीर्तनकारों को नियत करके अष्ट-सखा की भावना प्रगट की। सम्प्रदाय में एक मान्यता प्रचलित है कि संवत् १६०२ में 'अष्टछाप' की स्थापना की गई, किन्तु हमारी मान्यतानुसार 'नंददासजी' के शरण आने के पश्चात् संवत् १६०७ में अष्टछाप की विधिवत् स्थापना होना अधिक संगत है।

संगीत के साथ भोग, श्रृंगारादि का भी वैभव बढ़ाने का आपने निश्चय किया था। इस परिवर्तन की योजना से अधिकारी कृष्णदासजी भी सहर्ष सहमत हो गये थे। इस कार्य में विपुल द्रव्य की आवश्यकता होने के कारण आपने प्रवास करने का निश्चय किया और संवत् १६०० के अन्त में लगभग अडेल होते हुए गुजरात पधारे। इस यात्रा में अनेक जन आपके सेवक हुए तथा धन भी प्राप्त हुआ। तदनन्तर

** १. श्री कुंभनदास ३. श्री सूरदास २. श्री परमानंददास और ४. कृष्णदासजी*

*** १. गोविंद स्वामी २. चतुर्भुजदास और ३. छीतस्वामी।*

आपने गोवर्धन आकर समस्त धन श्रीनाथजी की सेवा में भेंट किया और यथोचित व्यवस्था कर अडेल आये।

तत्पश्चात् एक दुःखद प्रसंग यह हुआ कि श्री गोपीनाथजी के पुत्र श्री पुरुषोत्तमजी की १८ वर्ष की आयु हो जाने से उनकी माता ने उन्हें आचार्य पद पर अधिष्ठित कराने का आंदोलन चलाया जिनमें कृष्णदासजी अधिकारी का सम्पूर्ण सहयोग था। उन्होंने श्री विट्ठलनाथजी को श्री नाथजी के मंदिर में आने-जाने की ड्योढ़ी बंद कर दी, परन्तु आपने अपने पिता के नियत किये हुए अधिकारी कृष्णदास की आज्ञा का पालन करना कर्त्तव्य समझ कर कुछ भी विरोध नहीं किया। विट्ठलनाथजी परासोली ग्राम में चंद्रसरोवर पर विप्रयोगपूर्वक अन्न का त्याग कर केवल दुग्धाहार करते हुए रहने लगे। इस प्रकार छह महीने व्यतीत हो गये, तब आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधरजी ने मथुरा के हाकिम द्वारा कृष्णदास को कैद करा दिया और विट्ठलनाथजी के मंदिर-प्रवेश का राजकीय आदेश प्राप्त कर परासोली जाकर पिताजी से मंदिर-प्रवेश के लिए प्रार्थना की। तब आपने कहा—"जब तक कृष्णदास बंधन मुक्त नहीं होंगे तब तक हम अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे।" इस प्रतिज्ञा को सुनकर गिरिधरजी ने हाकिम से मिलकर कृष्णदासजी को बंधन मुक्त करा दिया। इस अपूर्व क्षमावृत्ति से कृष्णदासजी को अपने कृत्य पर अति पश्चत्ताप हुआ, और उन्होंने गद्-गद् कंठ से क्षमा याचना की। यही नहीं उसी दिन से वे आपके अनन्य भक्त हो गये। तब श्री बिट्ठलनाथजी ने कृष्णदासजी को पूर्ववत् श्रीनाथजी के मंदिर का अधिकारी बना दिया।

इसी बीच दैवयोग से श्री पुरुषोत्तमजी का लीला-प्रवेश हो जाने से वह आन्दोलन स्वतः शान्त हो गया और विक्रम संवत् १६०६ की आषाढ़ शुक्ल ५ को श्री विट्ठलनाथजी ने मंदिर में पुनः प्रवेश किया। तत्पश्चात् संवत् १६०७ में आपको विधिपूर्वक पुष्टि सम्प्रदाय के द्वितीयाचार्य का पद प्राप्त हुआ। उसी समय श्री नंददासजी विट्ठलनाथजी की शरण आये। उनकी काव्य-संगीत-विषयक योग्यता देखकर आपने उन्हें 'अष्टछाप-मंडल' में सहर्ष स्थान दिया। विष्णुदास छीपा वृद्ध हो चुके थे अतः उन्हें द्वारपाल नियुक्त किया।

अष्टछाप की स्थापना के पूर्व श्री विट्ठलेश्वर संगीत के सैद्धांतिक और क्रियात्मक रूपों में पारंगत हो चुके थे। आप समर्थ वीणावादक एवं गायक भी थे। सम्प्रदाय के स्तोत्रों में आपश्री को 'गीत-संगीत-सागर' नाम से संबोधित किया गया है। भक्त कवि जयदेवजी के समकक्ष आपने भी राग-रागनियों में अष्टपदियों की संस्कृत में रचना की है। उदाहरण रूप 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास की वार्ता प्रसंग ५ का निम्न उल्लेख देखिए:—

"एक दिन सूरदासजी गोकुल आये। बाल लीला के बहुत पद गाये। तब श्री गुंसाईजी आप पलना को कीर्तन संस्कृत में करिकें सूरसदासजी कों सिखायो। ता

समय श्री नवनीतप्रियाजी पालने में बिराजे, तब सूरदासने श्री गुंसाईजी कृत यह पलना गायो। सो पदः-

राग- रामकली-

प्रेंख पर्यंकशयनं।
चिरविरहतापहरमतिरुचिरमीक्षणं, प्रकटप्रेमायनं ।।ध्रुव।।
तनुतरद्विजपंक्तिमतिललितानि हसितानि तव वीक्ष्य गायकीनाम् ।।
इयदवधि परमेतदाशया समभवञ्जीवितं तावकीनाम् ।।1।।
तोकता वपुषि तव राजते दृशि तु मदमानिनीमानहरणम् ।।
अग्रिमे वयसि किमु भावि कामेपिनिजगोपिकाभावकरणम् ।।2।।
व्रजयुवतिहृद्यकनकाचलामारोढुमुत्सुकं तव चरणयुगलम् ।।
तेत्तुमुहुरुन्नमनमभ्यासमिव नाथ ! सपदि कुरुते मृदुलमृदुलम् ।।3।।
अधिगोरोचनातिलकमलकोद्ग्रथितविविधमणिमुक्ताफलविरचितम् ।।
भूषणं राजते मुग्धतामृतभरस्यंदिवदनेन्दुरसितम् ।।44।।
भ्रूतटे मातृरचितांजनबिंदुरतिशयितशोभया दृग्दोषमपनयन् ।।
स्मरधनुषि मधुपिबन्नलिराज इव राजते प्रणयिसुखमुपनयन् ।।5।।
वचनरचनोदारहास सहजस्मितामृतचयैर्रतिभरमपनयन् ।।
पालय सदास्मानस्मदीय 'विट्ठले' निजदास्यमुपयनन् ।।6।।

उपर्युक्त रचना में पलना में पौढ़े हुए बालकृष्ण प्रभु का सुन्दर वर्णन हुआ है। इस पद को पलना के दर्शन समय गाने की आज भी प्रथा है। तदतिरिक्त आपकी द्वितीय संस्कृत पद रचना को सम्प्रदाय में नितप्रति मंगल भोग सरे तब गाना आरंभ किया जाता है और अंतिम तुक का मंगला दर्शन खुलने पर गान किया जाता है। जो निम्न प्रकार है:—

मंगल मंगलं व्रजभुवि मंगलम् ।।
मंगलमिह श्रीनंदयशोदानामसुकीर्तनमेतद्रुचिरोत्संगसुलालितपालितरूपम ।।1।।
श्रीश्रीकृष्ण इतिश्रुतिसारं, नाम स्वार्तजनाशयतापापहमिति मंगलरावम् ।।
व्रजसुंदरीवयस्यसुरभीवृन्दमृगीगणनिरुपमभावा मंगलसिन्धुचयाय ।।2।।
मंगलभीषत्स्मितयुतवीक्षणभाषणमुन्नतनासापुटगतमुक्ताफलचलतम् ।।
कोमलचलदंगुलिदलसंयुतवेणुनिनादविमोहितवृन्दावनभुवि जाताः ।।3।।
मंगलमखिलं गोपीशितुरिति मंथरगतिविभ्रम-मोहितरासस्थितगानम् ।।
त्वं जय सततं गोवर्धनधर, पालय निजदासान् ।।4।।

इनके अतिरिक्त आपकी एक संस्कृत अष्टपदी महाकवि जयदेवजी की वसंत वर्णन की अष्टपदियों के समान वसंत राग में और वसंत खेल के भावानुकूल वर्णन में प्राप्त होती है। सम्प्रदाय में आज भी इस अष्टपदी का वसंत पंचमी से लेकर

फाल्गुन सुदी दसमी तक खेल (राजभोग) के दर्शन में वसंत राग में सर्वप्रथम गान किया जाता है, तत्पश्चात् अन्य कीर्तन गाये जाते हैं। यह निम्न प्रकार है:—

राग—बसन्त

हरिरिह व्रजयुवतीशतसंगे ।।
विलसति करिणीगणावृतवारणवर इव रतिपतिमानभंगे ।।ध्रुव ।।
विभ्रमसंभ्रमलोलविलोचनसूचितसंचितभावं ।।
कापि दृगंचलकुवलयनिकरैरंचति तं कलरावं ।।1।।
स्मितरुचिरुचिरतराननकमलमुद्वीक्ष्य हरे रतिकंदं ।
चुंबति कापि नितंबवती करतलधृतचिबुकममंदं ।।2।।
उद्भटभावविभावितचापलमोहननिधुवनशाली ।।
रमयति कामपि पीनघनस्तनविलुलितनववनमाली ।।3।।
निजपरिरंभकृतेनुद्रुतमभिवीक्ष्य हरिं सविलासं ।।
कामपि कापि बलादकरोदग्रे कुतुकेन सहासं ।।4।।
कामपि नीवीबंधविमोक्षसंभ्रमलज्जितनयनां ।।
रमयति संप्रति सुमुखि बलादपि करतलधृतनिजवसनां ।।5।।
प्रियपरिरंभविपुलपुलकावलिद्विगुणितसुभगशरीरा ।।
उद्गायति सखि कापि समं हरिणा रतिरसरणधीरा ।।6।।
विभ्रमसंभ्रमगलदृंगचलमलयांचितमंगमुदारं ।।
पश्यति सस्मितमति विस्मितमनसा सुदृशः सविकारं ।।77।।
चलति कयापि समं सकरग्रहमलसतरं सविलासं ।।
राधे तव पूरयतु मनोरथमुदितमिदं हरिरासं ।।8।।

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि आप काव्य एवं गायन कला में निपुण थे। यही नहीं श्री विट्ठलेश्वर ने वीणा-वादन में भी प्रभुत्व प्राप्त किया था। इस संबंध में कहा जाता है कि आप पूर्व जीवन में श्रीजी को एवं श्री नवनीतप्रियजी को जगाने तथा पौढ़ाने के समय वीणा बजाते थे किन्तु उत्तर जीवन में आपने वीणावादन का सर्वथा त्याग कर दिया था इस संबंध में निम्नलिखित कारण पाए जाते हैं:—

१. वीणा में संगीत के मार्मिक भेद बजाने के लिए आपने अपनी करांगुली का नख बढ़ाया था। एक दिन श्रीनाथजी का श्रृंगार करते समय श्रीजी के श्रीअंग में वह चुभ जाने से आपको पश्चात्ताप हुआ और तभी से आपने वीणा बजाना बंद कर दिया।

२. ऐसा भी कहा जाता है कि आपने नख बढ़ाया नहीं था, किन्तु नखी (निजराफ) को अंगुली में लगाकर बीन बजाते थे तथापि बीन बजाने में कुछ करांगुलियों के अग्रभाग कठोर हो जाते हैं। श्रीजी को स्पर्श करने में इस प्रकार की कठोर अंगुलियां अपराध रूप समझ कर आपने वीणा-वादन त्याग दिया।

३. कुछ अनुभवियों का कहना है कि कृष्णदास अधिकारी के प्रसंग से जब आपकी सेवा छूट गई थी तब विरहावस्था में वीणा-वादन स्वतः छूट गया।

४. इस लेखक के पिता (कीर्तनकार छबीलदासजी) के कथनानुसार आपश्री ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री यदुनाथजी को वीणा वादन सिखाया था। वे युवावस्था के आरम्भ से ही बीन बजाने लगे थे। तब उनको बीन की सेवा सौंप कर आपश्री ने बीन बजाना छोड़ दिया।

श्री* यदुनाथजी संगीत-कला में निपुण थे यह कीर्तन साहित्य से ज्ञात होता है। (यही परंपरा श्री यदुनाथजी के वंश षष्ठ गृह में आज तक कुछ न कुछ रूप में दृष्टिगत होती है।)

उपर्युक्त कारणों में से तृतीय एवं चतुर्थ कारण अधिक संभावित हैं। श्रीजी को नख चुभने की संभावना और करांगुलियों का कठिन होना, क्या ये बातें आप पहले से नहीं जानते थे।** क्या वर्षों तक बढ़े हुए नाखून वाली एक या दो अंगुली को वर्ज्य करके आप श्रृंगार करते होंगे? इत्यादि कारणों से प्रथम और द्वितीय अनुमान संशयात्मक हैं।

वीणा अति प्राचीन और पवित्र वाद्य है। शास्त्र में वीणा के मुख्य चार प्रकार बताए हैं। इसमें सम्प्रदाय की वीणा के प्रकार के संबंध में 'वाद्य-प्रकरण' में चर्चा की जायगी। अभी इतना ही कहना है कि तंत वाद्य में से प्राचीन वीणा (बीन) वाद्य का भगवद्-सेवा में प्रथम विनियोग किया। यह श्री विट्ठलेश्वर का प्रिय वाद्य था।

गायन कला में आपश्री ने जो पद रचना की है उनमें से संस्कृत भाषा के प्रबन्धों में से कुछ उदाहरण अभी बता चुके हैं। किन्तु तदतिरिक्त आपकी रचनाएँ 'ललितादि' छाप से भी प्राप्त होती हैं।

---

* *गोरी राग की 'प्रथम सीस चरनन धर वंदौं' धमार (पद) में 'महाराज श्री यदुनाथ जु करत मधुर सुर गान' का उल्लेख श्री गुसांईजी के अनन्य सेवक माणिकचंदजी ने किया है।*

** *कीर्तनों के पाठान्तर में एवं इस प्रकार की जनश्रुतियों में मुझे जब संशय हुआ तब स्थानीय बड़े मंदिर के पूज्यपाद सेवारसिक एवं कीर्तनमर्मज्ञ गोस्वामी श्री रणछोड़लालजी महाराज के पास जाकर प्रार्थना करने पर आपने तीसरा और चौथा कारण होना संभावित कहा था।*

श्री विट्ठलनाथजी ने अष्टछाप की स्थापना में अष्ट की संख्या नियत करने में जिस प्रकार शास्त्रोक्त विचार किया है, उसी प्रकार वाद्यों के विनियोग में भी संगीत शास्त्र को दृष्टि में रखा होगा, यह प्रतीत होता है।

सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के मुख्यतः तीन स्तंभ माने जाते हैं—राग, भोग और शृंगार। कोई 'भोग' को प्रथम मान कर 'भोग, राग और शृंगार' भी कहते हैं। किन्तु हमें लगता है कि प्रथम 'राग' मानना उचित है। क्योंकि श्रीजी को जगाने के पूर्व ही शंख-नाद, घंटा-नाद और वीणा के मधुर नाद (संगीत) का आरंभ हो जाता है। यही नहीं नित्यक्रम में ऋतु-अनुसार रागों में प्रातः स्मरणीय श्री वल्लभाचार्यजी तथा श्री विट्ठलनाथजी की विनती के पद-गान के बाद श्रीजी को जगाने के भाव का जब कीर्तन गान गाया जाता है तब श्रीजी को जगाया जाता है। तत्पश्चात् श्रीजी को मंगल-भोग धराया जाता है। अतः 'भोग' (सामग्री) के पहिले राग (संगीत) का क्रम-बंधान श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के समय से दिखाई देता है। श्री विट्ठलनाथजी ने शास्त्रोक्त दृष्टि से परिपूर्ण और व्यवस्थायुक्त सेवा रीति में राग (गीत-वाद्य) को जैसा क्रमबद्ध स्थान दिया है, ऐसा किसी भी अन्य आचार्य ने नहीं किया।

संगीत में गायन, वादन और नर्तन का समावेश होता है।[*] इनमें से गायन और वाद्य को नित्यक्रम की सेवाविधि में सदा के लिए भोग (सामग्री) के पहले ही स्थान दिया हुआ है। शास्त्र के प्राचीन उल्लेखानुसार चार प्रकार के वाद्य कहे गये हैं। इन चारों प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार के एक-एक वाद्य का वादन प्रातः सेवा के आरंभ से ही नियमबद्ध किया गया है। वाद्य-वादन का क्रम पुष्टिमार्ग में निम्नानुसार है—

१. सर्व प्रथम तंतु (तत) वाद्य का, प्राचीन वाद्य वीणा (बीन) का वादन होता है, जिसमें ऋतु-अनुसार के प्रातःकालीन राग में से किसी एक राग के मंद-मंद और मधुर आलाप लिए जाते हैं।

२. 'सुषिर' प्रकार के शंख वाद्य द्वारा तीन बार शंख ध्वनि की जाती है।

४. 'घन-वाद्य' प्रकार की घंटा से तीन बार घंटा-नाद किया जाता है।

३. घंटा-नाद के पश्चात् तुरन्त ही कीर्तन-गान (गायन) का आरंभ होता है और श्रीजी को जगाया जाता है। फिर मंगल भोग लगाया जाता है।

---

[*] *गीतवादित्यनृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते।*

१. *तंतु चेवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।*
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्।
(भरतनाट्यशास्त्र अ० २८ श्लो. १)

५. मंगल-भोग-सरने पर, मंगला दशन की तैयारी में 'अवनद्ध' प्रकार के वाद्य में नौबत बजने लगती हैं, साथ में 'सुषिर 'वाद्य की शहनाई भी ऋतु-अनुसार राग में बजती है।

श्री विट्ठलेश्वर (श्री गुसांईजी) ने अष्टछाप की स्थापना-समय से उपर्युक्त प्रकार से नियमित क्रम से गीत-वाद्य का जो क्रम स्थापित किया वह आज तक श्रीजी के (नाथद्वार) मंदिर में दिखाई देता है।

उपर्युक्त विधान से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि मंगल भोग (प्रातः काल का कलेऊ) के पहले ही संगीत के मुख्य अंग गीत (कीर्तन) और वाद्यों का वादन शुरू हो जाता है। अतः सम्प्रदाय की प्रणाली के मुख्य स्तंभों में प्रथम 'राग' (संगीत) का स्थान स्पष्ट होता है। इस प्रकार क्रमशः राग, भोग और शृंगार की प्रणाली श्रीजी की सेवा के आरंभ काल से नियत की हुई है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि सम्प्रदायेतर भक्त कवि नाभाजी ने भी प्रथम राग का उल्लेख किया है।*

श्रीमद् वल्लभाचार्य ने जब श्रीजी की सेवा का क्रम प्रारंभ किया था उस समय ब्रजवासियों द्वारा जो कुछ सामग्री आया करती थी उसी का भोग लगाया जाता था और शृंगार में 'पाग', चंद्रिका और मुकुट ही धराया जाता था। उस समय भी कुंभनदास और सूरदास जी जैसे महान् संगीत कीर्तनकारों का कीर्तन-गान होता रहता था। पश्चात् कृष्णदासजी और परमानंददासजी भी सम्मिलित हुए। यद्यपि श्री वल्लभाचार्य जी के समय में भोग-शृंगारादि का क्रम सूक्ष्म प्रमाण में था, तथापि उस समय भी आपके चार महान् संगीताचार्य सेवकों के द्वारा श्रीजी की सेवा में गायन होता था जिनकी गान कला की ख्याति राजा-महाराजाओं तक पहुंच चुकी थी। इस सन्दर्भ में सूरदासजी और कुंभनदासजी की वार्ताओं में पर्याप्त प्रमाण हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के तिरोधान (विक्रम संवत् १५८७) के पश्चात् संवत् १५९२ में प्रभुचरण गुसांईजी विट्ठलनाथजी** जब गोकुल पधारे तब भरतपुर राज्यान्तर्गत आंतरी ग्राम के महान् गवैया और महाकवि गोविन्द स्वामी तथा मथुरा के 'छीतु' चौबे प्रभावित होकर शरण में आये और उन्हें श्रीजी की कीर्तन-गान-सेवा के लिए आज्ञा हुई।

तत्पश्चात् संवत् १५९७ में कार्तिक शुक्ल १२ को आपके प्रथम पुत्र श्री गिरिधरजी का प्राकट्य हुआ। उस समय आपने श्री नवनीतप्रियजी के सम्मुख बड़े समारोह से नन्दमहोत्सव किया था तदनन्तर आपने सकुटुम्ब गोवर्धन आकर नवजात

---

* *राग भोग नित विविध रहत परिचर्या तत्पर (भक्तमाल)*

** *श्री विट्ठलेश्वर का प्रभुचरण अभिधान सम्प्रदाय में अति प्रसिद्ध है।*

शिशु को श्रीजी के चरणस्पर्श कराये और श्रीजी के सम्मुख नंदमहोत्सव किया। इसी अरसे में आपके निवासार्थ मंदिर और श्रीजी की लगभग २००० गायों के रक्षणार्थ बड़ी खीडक भी तैयार हो चुकी थी।* स्वमंदिर में श्री नवनीत प्रभु को पधराकर आपने मनोरथ किये गये। उसी समय सं. १५९८ ई., सन् १५४२ में 'अष्टछाप' के मूल पुरुष श्री कुंभनदासजी के पुत्र श्री कृष्णदास और सातवें पुत्र चतुर्भुजदास को शरण लिया। कृष्णदास को गायों की सेवार्थ चार मुख्य ग्वालों में सम्मिलित किया** और चतुर्भुजदास, जो अपने पिता से काव्य और संगीत कला का यथेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, को श्रीजी की कीर्तन-सेवा में नियुक्त किया। कहा जाता है कि संवत् १५९९ में प्रभुचरण के द्वितीय पुत्र श्री गोविन्दरायजी का प्राकट्य हुआ। तदुपरान्त विक्रम संवत् १६०० में आपने प्रथम ब्रजयात्रा की। कुछ समय बाद एक दिन उत्थापन-समय श्री प्रभुचरण को चिन्तित देख कर श्री गोवर्धनधरण (श्री नाथजी) ने निम्न प्रकार की प्रत्यक्ष आज्ञा की:— 'आप चिन्तित न हों। जीव मात्र जिससे अलिप्त नहीं रह सकता ऐसे राग, भोग और शृंगार को मेरे में पूर्ण रूप से नियोजित कर उसका विस्तार करो।' ††

श्रीजी की इच्छानुसार श्री विट्ठलेश्वर ने राग, भोग और शृंगार की सेवा-भावना को वृहद् रूप देकर वि. सं. १९०२ के लगभग स्वसिद्धान्तानुसार क्रियात्मक प्रणालिका निम्न प्रकार नियत की।

१. 'राग' संगीत प्रणाली के उत्कर्षार्थ अष्टसखा की मंडली बनाई गई। जिनमें कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास ये चार संगीताचार्य पितृचरण के और गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास और विष्णुदास छीपा ये चार स्वयं प्रभुचरण के सेवक थे। इन्हें मिलाकर अष्टसखाओं की भावना प्रगट की और तत्कालीन राग-रागिनियों में कीर्तन गान का समयानुसार नियोजन किया।

२. 'भोग' (सामग्री) में नंदालय की भावनानुसार प्रातः कलेवा (मंगल-भोग) में माखन, मिश्री, दूध, दही, मलाई, लड्वा की सामग्री नियत की गई। तत्पश्चात् शृंगार करते समय भी थाल में सजावट और शृंगार के बाद ग्वाल रूप श्रीकृष्ण गायों की खीडक में पधारकर घैया††† आरोगने के भाव के अनुसार घैया आरोगने का क्रम चालू किया। राजभोग में शीत ऋतु में यशोदाजी बालकृष्ण

---

* *यह मंदिर आजकल जतीपुरा में श्री मथुरेशजी के मंदिर से प्रसिद्ध है।*

** *१. गंग ग्वाल २. गोपाल ३. गोपीनाथ और ४. कृष्णदास*

†† *स्वयं श्रीजी की आज्ञा में भी यहां प्रथम 'राग' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। देखिए—श्री विट्ठलेश्वर चरितामृत (गुजराती पृ.११९)*

††† *दूध को मंथन करने से जो झाग प्रगट होते हैं, उन्हें घैया कहते हैं।*

को नंदालय में गरम-गरम भोजन कराती थीं, उसी भावनानुसार सखड़ी, अनसखड़ी की सामग्री धराने का प्रबंध किया और उष्णकाल में गरमी होने के कारण यशोदाजी गोपीजनों द्वारा वन में विविध सामग्री पहुँचाती थीं, उसी भावनानुसार ऋतु के अनुसार सामग्री का राजभोग धरने का क्रम बनाया।

सायंकालीन सेवा-क्रम में भी सामग्री का योग्य प्रवन्ध किया गया।

३. 'शृंगार' धराने में भी अष्ट प्रकार के शृंगार निश्चित किये गये जो निम्न प्रकार हैं:—

अ. श्री मस्तक के शृंगार–१. पाग, २. फेंटा, ३. दुमाला, ४. पगा, ५. कुल्हे, ६. सेहरा, ७. टीपारा, ८. मुकुट।

ब. श्री अंग के वस्त्र–१. बागो, २. पिछौरा, ३. परदनी, ४. धोती उपरना, ५. मल्लकाछ, ६. काछनी, ७. सूथन पटका, ८. तनिया।

स. आभूषण:—

१. अलकावली, ठाडी-लड़, २. तिलक, त्रिरेखा ३. नकबेसर-चिबुक, ४. कुंडल, कर्णफूल, ५. कंडसरी, विविध प्रकार की कंठ मालाएं, हांस, हमेल, हार, क्षुद्रघंटिका, ६. मुद्रिका, पहोंची, हस्त के कडा-सांकला, बाजूबंद, ७. हस्त और चरण के नख-भूषण, ८. नूपुर, पायल, जेहर, अणवट, बिछिया, पगपान

अन्य समस्त प्रकार की सेवा के लिए कोठा (खंड या कक्ष) बनवाए और उनके संकेतरूप नाम १. दूध घर, २. पान घर, ३. फूल घर, ४. गुलाब घर, ५. आरती घर, ६. जलघरा, ७. साग घर, ८. रसोई घर इत्यादि।

इस प्रकार श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित सेवा के विस्तार की श्रीजी की आज्ञा को श्री विट्ठलेश्वर ने परिपूर्ण किया।

श्री विट्ठलेश्वरजी की द्वारिका की यात्रा का समय विक्रम संवत् १६०० का माना जाता है, द्वारकादास परिख के मतानुसार संवत् १६०३ है।*

संगीत की सेवा में भी संवत् १६०२ में अष्टसखा के भावात्मक स्वरूप की दृष्टि से जो मंडली रची गई थी उसी को नंददासजी के शरण आने के पश्चात् संगीत शास्त्रीय आधार पर समारोह के साथ अष्टछाप के नाम से सम्मानित किया गया।†† अष्टछाप की स्थापना का समय संवत् १६०७ या संवत् १६०८ का प्रारंभ

---

* *विट्ठलेश चरितामृत पृष्ठ १३०*

†† *'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में गायक-वादक के वृन्द की चर्चा में सामान्य (कनिष्ट) वृंद की संख्या में आठ का उल्लेख किया गया है, जिसका अधिक विवरण इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है।*

काल माना जाता है। इस अष्ट कीर्तनाचार्यों के नाम, शरणागति समय और लीलास्थित नाम निम्न प्रकार हैं:—

नाम	लीलास्थितनाम	शरणागति समय
१. श्री कुंभनदासजी	अर्जुन सखा	सं. १५५६ (ई०स० १५००)
२. श्री सूरदासजी	कृष्ण सखा	सं. १५६७ (ई०स० १५११)
३. श्री कृष्णदासजी	ऋषभ सखा	सं. १५६८ (ई०स० १५१२)
४. श्री परमानंददासजी	तोक सखा	सं. १५७७ (ई०स० १५२१)
५. श्री गोविन्दस्वामी	श्रीदामा सखा	सं. १५९२ (ई०स० १५३६)
६. श्री छीतस्वामी	सुबल सखा	सं. १५९२ (ई०स० १५३६)
७. श्री चतुर्भुजदास	विशाल सखा	सं. १५९८ (ई०स० १५४२)
८. श्री नंददासजी	भोज सखा	सं. १६०७ (ई०स० १५५१)

उपर्युक्त अष्टछाप भक्तों में प्रथम चार श्री वल्लभाचार्यजी के सेवक थे और पाँच से आठ क्रम के महानुभाव श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण के सेवक थे।

इस प्रकार अष्टछाप की स्थापना के समय से श्रीजी के सम्मुख कीर्तन-गान की सेवा व्यवस्थित और शास्त्रीय प्रणाली के अनुसार होने लगी। ६ मुख्य राग तथा ३० रागनियों एवं ६ राग और ३६ रागनियों की उस समय की शास्त्रीय मान्यता के अनुसार गान होने लगा, किन्तु अष्टछाप के संगीताचार्यों के ३६ और ४२ राग-रागनियों के नाम ग्रन्थोक्त नामों से भिन्न हैं। क्योंकि उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम रागों का शास्त्रीय विचार किया है। इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा 'राग और राग संख्या' प्रकरण में की गई है। अष्टछाप के उपरान्त और भी उप कीर्तनकार श्री विट्ठलेश्वर के समय में पाए जाते हैं। वे कीर्तन में सहायक रूप होते थे और कीर्तनों को लिख लेते थे। संवत् १६०५ में आप के यहां तृतीय पुत्र श्री बालकृष्णजी का तथा संवत् १६०८ में चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलेश का प्राकट्य हुआ। तत्पश्चात् संवत् १६११ में पंचम पुत्र श्री रघुनाथजी का प्राकट्य होने के अनंतर संवत् १६१३ में पुनः द्वारिका–यात्रा के लिए पधारे। इस समय मार्ग में राजनगर (अहमदाबाद) में असारवा भाईला कोठारी के घर आप १५ दिन तक विराजे थे।

संवत् १६१५ के कार्तिक शुक्ल में श्री प्रभुचरण ने षड्ऋतु का भावात्मक मनोरथ किया। अनुरागात्मक ऋतु 'वर्षा' से इसका आरंभ किया। तत्पश्चात् क्रमशः शरद, हेमंत, शिशिर, वसंत और ग्रीष्म ऋतु के मनोरथों को स्वयं श्रीजी की इच्छा

काल माना जाता है। इस अष्ट कीर्तनाचार्यों के नाम, शरणागति समय और लीलास्थित नाम निम्न प्रकार हैं:—

नाम	लीलास्थितनाम	शरणागति समय
१. श्री कुंभनदासजी	अर्जुन सखा	सं. १५५६ (ई०स० १५००)
२. श्री सूरदासजी	कृष्ण सखा	सं. १५६७ (ई०स० १५११)
३. श्री कृष्णदासजी	ऋषभ सखा	सं. १५६८ (ई०स० १५१२)
४. श्री परमानंददासजी	तोक सखा	सं. १५७७ (ई०स० १५२१)
५. श्री गोविन्दस्वामी	श्रीदामा सखा	सं. १५९२ (ई०स० १५३६)
६. श्री छीतस्वामी	सुबल सखा	सं. १५९२ (ई०स० १५३६)
७. श्री चतुर्भुजदास	विशाल सखा	सं. १५९८ (ई०स० १५४२)
८. श्री नंददासजी	भोज सखा	सं. १६०७ (ई०स० १५५१)

उपर्युक्त अष्टछाप भक्तों में प्रथम चार श्री वल्लभाचार्यजी के सेवक थे और पाँच से आठ क्रम के महानुभाव श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण के सेवक थे।

इस प्रकार अष्टछाप की स्थापना के समय से श्रीजी के सम्मुख कीर्तन-गान की सेवा व्यवस्थित और शास्त्रीय प्रणाली के अनुसार होने लगी। ६ मुख्य राग तथा ३० रागनियों एवं ६ राग और ३६ रागनियों की उस समय की शास्त्रीय मान्यता के अनुसार गान होने लगा, किन्तु अष्टछाप के संगीताचार्यों के ३६ और ४२ राग-रागनियों के नाम ग्रन्थोक्त नामों से भिन्न हैं। क्योंकि उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम रागों का शास्त्रीय विचार किया है। इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा 'राग और राग संख्या' प्रकरण में की गई है। अष्टछाप के उपरान्त और भी उप कीर्तनकार श्री विट्ठलेश्वर के समय में पाए जाते हैं। वे कीर्तन में सहायक रूप होते थे और कीर्तनों को लिख लेते थे। संवत् १६०५ में आप के यहां तृतीय पुत्र श्री बालकृष्णजी का तथा संवत् १६०८ में चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलेश का प्राकट्य हुआ। तत्पश्चात् संवत् १६११ में पंचम पुत्र श्री रघुनाथजी का प्राकट्य होने के अनंतर संवत् १६१३ में पुनः द्वारिका—यात्रा के लिए पधारे। इस समय मार्ग में राजनगर (अहमदाबाद) में असारवा भाईला कोठारी के घर आप १५ दिन तक विराजे थे।

संवत् १६१५ के कार्तिक शुक्ल में श्री प्रभुचरण ने षड्ऋतु का भावात्मक मनोरथ किया। अनुरागात्मक ऋतु 'वर्षा' से इसका आरंभ किया। तत्पश्चात् क्रमशः शरद, हेमंत, शिविर, वसंत और ग्रीष्म ऋतु के मनोरथों को स्वयं श्रीजी की इच्छा

से सम्पन्न किया गया था। इस संबंध में 'खट ऋतु की वार्ता' के प्रारंभ में इस प्रकार कहा गया है:—"श्री ठाकुरजी, श्री स्वामीजी, श्री यमुनाजी तथा अष्टसखी आदि ब्रज भक्तन को संग लैकें स्याम ढांक से बिलछू कुंड पधारे, वहां बिलछू की शोभा देखि कें श्री ठाकुरजी श्री स्वामीजी सों आज्ञा किये जो–या समें कछु गान कीजे। तब स्वामिनीजी ने कहें, जो-पहले आपु कछु गाइए। तब श्री ठाकुरजी ने वेणु गीत* को एक श्लोक को अद्भुत गान कियो। पाछें स्वामिनीजी सो आज्ञा कीनी आपहू कछु गाइए। तब श्री स्वामीनीजी और श्री यमुनाजी, दोउ स्वरूप मिलि के युगल गीत** (दोय श्लोक) के अद्भुत अलौकिक गान किये। तब जितनेक ब्रज भक्त हैं सो सब गान सुनि कें चित्र कैसे लिखे रहि गये। ता पाछें श्री स्वामीनीजी ने आज्ञा कीनी जो प्यारे, एक मेरो मनोर्थ है जो खट ऋतुन के विभाग सहित अष्टयाम की लीला करें। एक दिन रात्र में छेओं ऋतुन की छेओं निकुंजन में पधारि हमारे छेओं स्वरूपन के मनोरथ सिद्ध होय।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और स्वामिनीजी की इच्छानुसार उस समय अपने ऐश्वर्य रूप से षटऋतुएँ उपस्थित हो गईं। प्रत्येक ऋतु की निकुंज में सखियों द्वारा भोग, राग और श्रृंगारादि की सजावट हो चुकी। (१) प्रथम श्री स्वामिनीजी के मनोरथ की निकुंज में सूर्योदय से १० घड़ी तक (६ से १० बजे तक) वसन्त ऋतु के मनोरथ किये। (२) श्री ललिताजी की निकुंज में ग्रीष्म ऋतु की लीला दस घड़ी (१० से २ बजे तक) मध्य दिन की १० घड़ी तक विराजे (३) श्री विशाखाजी की तृतीय निकुंज के दिनांत की १० घड़ी (२ से ६ बजे) में वर्षा ऋतु के तथा (४) श्री चंद्रावलीजी की चतुर्थ निकुंज में रात्रि के आरंभ १० घड़ी (६ से १०) के समय में शरद ऋतु के। (५) पश्चात् की १० घड़ी (१० से २ में श्री यमुनाजी की पांचवी निकुंज में हेमंत ऋतु के भाव के और (६) श्री ठाकुरजी के मनोरथ की शिशिर ऋतु के भाव की रात्रि की अंतिम १० घड़ी (२ से ६) तक मनोरथ किये। तदुपरान्त 'खट ऋतु वार्ता' के अनुसार श्री ठाकुरजी ने ३६ राग-रागनियों बुला कर ३६ बाजे सहित उपस्थित होकर एक एक ऋतु की निकुंज में छ:छ: समय के अनुसार नृत्य, गान तथा बाजे सावधानी से बजाने की आज्ञा की। इन छत्तीसों राग-रागिनियों तथा ३६ बाजों के नाम इस प्रकार है।*

राग-रागनियों के नाम:–

१. मल्हार २. ललित ३. पंचम ४. आसावरी ५. भैरव ६. मालव ७. टोडी ८. कल्याण ९. गुर्जरी १०. मालवी ११. गौडी १२. बिलावल १३.

---

* बर्हापीडं नटवरवपु: कर्णयो: कर्णिकारम्....।
** वामबाहुकृतवामकपोलो....।
† खट ऋतु की वार्ता-पृष्ठ-४,५

धनाश्री १४. रंगीली १५. खमाज १६. देसावर १७. कानरो १८. गौड मल्हार १९. केदारो २०. षट-मंजरी २१. रामकली २२. गंधार २३. वराडी २४. कुंकुम २५. कामोद २६. नट २७. गुनकली २८. माधवी २९. देस ३०. विभास ३१. हास ३२. काफी ३३. सोरठ ३४. ईमन ३५. जै जै वंती ३६. सारंग।*

वाद्यों के नामः–

१. बीना (बीन) २. मुरली ३. अमृत कुंडली ४. जलतरंग ५. मदन भेरि ६. धोसा ७. दुदुंभी ८. निसान ९. नगारा १०. शंख ११. घंटा १२. मुहचंग १३. सींगी १४. खंजरी १५. ताल १६. खट्ताल १७. मंजीरा १८. महुवरि १८. यारी २०. झालर २१. ढोल २२. डफ २३. डिमडिम २४. झांझ २५. मृदंग २६. गिडगिडि २७. पिनाक २८. रबाब २९. जंत्र ३०. सहनाई ३१. श्री मंडल ३२. सारंगी ३३. दूवारी ३४. करताल ३५. तुरई ३६. किन्नरी**

षट्ऋतु के इस महोत्सव में प्रत्येक ऋतु के मुख्य त्यौहार के मनोरथ मनाये गये। जैसे वसन्त ऋतु का डोल, ग्रीष्म ऋतु का जलविहार और फूल-मडली, वर्षा ऋतु के हिंडोरा (झूला), शरद ऋतु की निकुंज में रासोत्सव, हेमंत ऋतु की निकुंज में नित्य लीला के भाव में कुनवारो और (प्रबोधिनी) जागरण तथा शिशिर ऋतु की निकुंज में वसंत-होरी के मनोरथ किये। इस प्रकार प्रत्येक ऋतु के मनोरथ अनुसार सामग्री, शृंगार तथा संगीत का आयोजन किया गया। प्रथम रात्रि की अंतिम १० घड़ी (२ से ६ बजे तक) शिशिर ऋतु की कुंज में मंगला से उत्सव प्रारंभ होता है। ललित रागिनी बीन बजाकर सखियों को जगाती हैं और सखियां प्रिया-प्रियतम के पास जाकर ऋतु अनुसार भोग, राग, शृंगारादि से मनोरथ सिद्ध करती हैं।

उपर्युक्त भावनानुसार श्री विट्ठलेश्वर ने षटऋतु के मनोरथ का श्री गिरिधर-जी की भावनात्मक सूचनानुसार संवत् १५१५ कार्तिक शुक्ल ६ प्रथम वर्षा ऋतु के आगम रूप 'कसुंबा छट 'और हिंडोरा का मनोरथ किया। श्री नवनीतप्रियादि सातों

** नं. १०,१४,२०,२२,३१ इत्यादि नामों के संबंध में 'हमारे राग और राग-संख्या प्रकरण देखिए।*

१. वाद्यों का विवरण 'वाद्य प्रकरण' में किया जायगा।

स्वरूपों के अनुकूल शृंगार किये, विविध सामग्रियाँ राजभोग में निवेदन की गईं। पश्चात् अष्टछाप कीर्तनकारों को भावानुसार पद-गान गाने की आज्ञा की गयी।*

मनोरथों के इस महान् उत्सव पर राधावल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक श्री हितहरिवंशजी तथा संगीताचार्य श्री हरिदास स्वामी प्रभृति अन्य सम्प्रदाय के महानुभाव, भक्त, कवि एवं संगीतकार भी दर्शनार्थ उपस्थित हुए थे। उस समय उन्होंने प्रसन्न होकर श्रीजी के सान्निध्य में अनुकूल पद-गान-निवेदन की इच्छा प्रगट की। फलतः श्री विट्ठलेश्वर ने प्रत्येक मनोरथ के भाव समझाये और तदनुरूप गान करने के लिए सहमति दी। तदनुसार श्री हरिदास स्वामी ने तथा श्री हितहरिवंशजी इत्यादि ने तन्मयतापूर्वक श्री जी के सम्मुख षड्ऋतु मनोरथ में पद-गान किया।**

इस प्रकार चतुः सम्प्रदाय के सर्वोच्च भक्त-कवि एवं संगीताचार्यों के संगठन का प्रारंभ हुआ। इन महानुभावों के पद-गान से श्री विट्ठलेश्वर अत्यंत प्रसन्न हुए और श्रीजी के सान्निध्य में अष्टछाप की वाणी के साथ इनकी वाणी को भी सम्प्रदाय में स्थान दिया गया। इस प्रकार साम्प्रदायिक एकता द्वारा चारों सम्प्रदायों के अग्रगण्यों के मन आकर्षित हो गये जिनके फलस्वरूप पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-भावना-पद्धति का उन सम्प्रदायों में गहरा प्रभाव दिखाई देने लगा।

चतुः सम्प्रदाय के इन महानुभावों के भावात्मक पद-गान को श्रीजी के सन्मुख गान करने की श्री प्रभुचरण की आज्ञा से श्री गिरिधरजी को जब आश्चर्य हुआ, तब प्रभुचरण ने कहा—"इनमें संशय जैसा कुछ नहीं है। सर्वांश परिपूर्ण अपने पुष्टिस्थ प्रभु को किसी भी प्रकार के पूर्णांश से उपभोग कराकर प्रसन्न करना यह पुष्टिस्थ का सहज कर्त्तव्य है। अतः जिन भक्त-गायकों को ईश्वर की लीला का एवं ईश्वरोप-

---

* *खट-ऋतु की वार्तानुसार-हिंडोरा के मनोरथ के समय राग मल्हार में —'राधा मोहन झूलत सुरंग हिंडोरे' पद गोविंद स्वामी ने गाया। डोल के मनोरथ के समय राग-सारंग में निम्न पद का कृष्णदासजी ने गान किया 'डोल झूलत हैं पिय प्यारी, नंदनंदन वृषभान दुलारी' रासोत्सव के मनोरथ में परमानन्ददासजी ने राग-मालव में 'ब्रजवनिता मधि रसिक राधिका बनी सरद की राति हो' पद का गान किया। इत्यादि।*

** *अ. अनुमानतः श्री हरिदास स्वामी ने डोल के दर्शन में राग-सारंग 'पुहुप वृष्टि हो होति, डोल झूलत बिहारि बिहारिन' इस पद का गान किया था।*

ब. तथा श्री हितहरिवंशजी ने तदनंतर रासोत्सव तथा वसंत के मनोरथ में कीर्तन गान में भाग लिया था।

१. *लगभग उसी समय से आज तक अन्य मार्गों के देवालयों में भी पुष्टिमार्ग के अष्ट दर्शन, अष्ट भोग, अन्नकूट, होरी इत्यादि की प्रथा दिखाई देती है।*

योगी राग-रागिनियों का साक्षात्कार हुआ हो ऐसे महानुभावों की वाणी में पूर्णता का गुण सर्वांश सिद्ध होने के कारण उनकी वाणी भगवद्-भोग्य है।" (श्री विट्ठलेश्वर चरितामृत पृष्ठ १५२)

ऐसा उल्लेख है कि 'हिंडोरा' के मनोरथ में अष्टछापादि महानुभावों ने अपने यूथ में सुंदर स्वरों से राग-हिंडोला का गान आलाप किया। (श्री विट्ठलेश्वर चरितामृत-पृष्ठ १५३)

इस प्रकार चतुर्मास के वर्षाऋतु के भाव में कसुंभीषष्ठी और हिंडोला तथा जन्माष्टमी के मनोरथ सिद्ध किये। पश्चात् दान का मनोरथ (संवत् १६१५ कार्तिक शुक्ल ११) को विविध प्रकार की सजावट द्वारा सम्पन्न किया। उस समय श्री आचार्यजी के सेवक कुंभनदासजी को कीर्तन-गान की आज्ञा की गई। तब कुंभनदास जी ने गोकुल की 'व्रजनारि दह्यौ नित बेचन आवै'* यह बड़ी दान-लीला गाकर माहात्म्य-ज्ञान और स्नेह-रूप भक्तिभाव प्रदर्शित किया। श्री सूरदासजी ने 'गढ़ तें ग्वालिन उतरी सीस मही को माट' 'इस दान लीला के गान में बरसाने की लीला का स्मरण कराया।

तत्पश्चात् कार्तिक शुक्ल १५ को शरद का मनोरथ उज्ज्वल सामग्री तथा तदनुरूप सजावट की रचना द्वारा सिद्ध किया गया और श्री आचार्यजी के सेवक कृष्णदास को कीर्तन गाने की आज्ञा की। उस समय श्री हितहरिवंशादि अन्य साम्प्रदायिक महानुभावों ने भी पद-गान किया था। हेमंत ऋतु के उपलक्ष्य में व्रज मार्गशीर्ष बदी १ को 'व्रतचर्या' का मनोरथ किया अनंतर शिशिर ऋतु के मनोरथ में श्रीजी की प्रेरणा से श्री विट्ठलेश्वर ने अपने जन्म दिवस का उत्सव मनाया। वसंत ऋतु में मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को वसंत-पंचमी का मनोरथ किया और छठ के रोज डोलोत्सव का मनोरथ किया। वसन्त पंचमी के उत्सव में श्री हितहरिवंशजी ने श्री जी के सन्मुख 'बेनु माई बाजत री बंसीवट' पद सुनाया था।

शयन के दर्शन में 'श्री गोवर्धनराय लाला' धमार का कल्याण राग में गोविन्द स्वामी ने गान किया। डोल के मनोरथ में कृष्णदासजी ने 'डोल झूलत है पिय प्यारी' तथा श्री हरिदास स्वामी ने 'डोल झूलत बिहारी बिहारिन पुहुप वृष्टि हो होति' इस पद का गान किया था।

तदनंतर ग्रीष्म ऋतु के मनोरथ में अक्षयतृतीया का मनोरथ किया। इस मनोरथ की सजावट में मानों खट-ऋतु एक ही साथ विराजमान हो रही हों ऐसा

---

* *इनमें ऐसे बलवंत' हो से लेकर 'अब को गयो न आवहूं हो फिर देखो नहि मोहि' तक की दो तुकों में कर्ण-कटु शब्द श्री विट्ठलेश्वर को अनुकूल नहीं लगे थे। अतः यह दान लीला का पद आज भी श्रीजी के सम्मुख नहीं गाया जाता।*

अनुभव होने लगा। फलतः श्री चतुर्भुजदास के निम्नलिखित पद-गान से षट् ऋतु का महामनोरथ सम्पन्न हुआ–

ललित ब्रजदेश गिरिराज राजें।
घोख सीमंतिनी संग गिरिवरधरन,
करत नित केलि तहां काम लाजे।।
त्रिविध पवन संचरे सुखद झरना झरे,
अमित सौरभ तहां मधुप गाजे।
ललित तरु फूल फलित षट ऋतु सदा
'चत्रभुजदास' गिरिधर समाजे।।

उपर्युक्त प्रकार षट्-ऋतु के मनोरथ द्वारा प्रत्येक ऋतु का राग, भोग एवं शृंगार सहित प्रभु को विनियोग किया गया। तदनंतर छप्पन भोग महायज्ञ द्वारा प्रभु को प्रसन्न कराने का निश्चय किया गया। आठ दिन पूर्व इनकी तैयारियां होने लगीं, और माघ शीर्ष शुक्ल १५ को छप्पन भोग यथाविधि सम्पन्न किया।*

छप्पन भोग को पुष्टिमार्गीय आधिदैविक यज्ञ माना जाता है। यज्ञ में यजमान, अध्वर्यु, उद्गाता और ऋत्विज को नियत किया जाता है, पुष्टिमार्ग में क्रमशः करयिता, परचारग, मुखिया और भीतरिया उसी मर्यादानुसार उनके स्थानापन्न माने जाते हैं। नैवेद्य में खट-रसों की ५६ प्रकार की विविध सामग्रियों का भोग लगाया जाता है। उस समय महानुभावों के हृदय में राजभोग 'निकुंज' तथा 'श्री वृषभान सदन' के निमंत्रण रूप में विविध भावनाओं की उत्पत्ति हुई, जो कि सूर, परमानंद, कुंभनदास तथा माणिकचंद, गदाधर आदि भक्त-कवियों के कीर्तनों द्वारा प्रगट होकर प्रसिद्ध हो चुकी है।

षड्-ऋतु और छप्पन भोग के मनोरथ में जिस प्रकार भोग (सामग्री) के प्रकार बढ़ाये गये उसी प्रकार अष्टछाप में राग (संगीत) गान में भी अन्य प्रकार एवं रागों का क्रम बढ़ाया, यह माना जाता है।**

---

* *इसकी स्मृति में आज तक माघ शीर्ष शुक्ल १५ को छप्पन भोग का उत्सव श्रीजी के सम्मुख मनाया जाता है।*

** *जैसे श्री कुंभनदासजी ने खट ऋतु में दान के मनोरथ समय 'गोकुल की ब्रजनार दह्यो नित बेचन आवै' यह दान लीला गाकर 'नट बिलावल' को अंगीकार कराया।*

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के समय तक तत्समय की शास्त्रीय मान्यतानुसार ३६ या ४२ राग ही श्री जी को अंगीकार कराये गये थे किन्तु तत्पश्चात् षट्-ऋतु के मनोरथ और छप्पन भोग के महोत्सव के समय से ५६ प्रकार की सामग्री के साथ संगीत के अन्य राजस प्रकृति के राग भी श्री जी को अंगीकार कराये गये और कीर्तन-गान के रागों की संख्या ५६ की गई। इस प्रकार श्री गुसांईजी के समय में अष्टछापादि महानुभावों का कीर्तन-गान छप्पन प्रकार के रागों में होने लगा।*

छप्पन भोग महोत्सव के पश्चात् रथयात्रा के समय पर प्रभुचरण जगन्नाथजी की यात्रार्थ पधारे। उस समय पीपली ग्राम के माधवदास ने आज्ञा प्राप्त कर जगदीश जी के सम्मुख 'जय श्री जगन्नाथ हरि देवा' इस पद का गान किया। तत्पश्चात् पुष्टिमार्ग में रथोत्सव को नियमित उत्सवों में स्थान दिया गया।

संवत् १६१६ में गुसांईजी के षष्ठ पुत्र श्री यदुनाथजी का प्राकट्य हुआ। तदनन्तर आप गौड़ देश पधारे। वहां एक मास तक बिराजे। इस समय वहां के 'दाउद बादशाह' से मिलन हुआ। आपके साथ हुई धार्मिक चर्चा से प्रभावित होकर दाउद ने आपका सम्मान किया। तत्पश्चात् आप अडेल पधारे। वहां आपकी रुक्मिणी बहुजी का लीला प्रवेश होने से श्री विट्ठलेश्वर का चित्त व्यग्र हुआ। आपने तथा श्री गोपीनाथजी ने जगदीश की ओर प्रयाण किया। मार्ग में बान्धोगढ़ के वाघेला वंश के राजा रामचन्द्र ने आपका स्वागत किया। आपके साथ आपके बड़े पुत्र श्री गिरिधरजी भी बहुजी सहित पधारे थे। वहां के निवास-काल में श्री गिरिधरजी का राजा रामचंद्र से घनिष्ठ संबंध हो गया था। इसी समय में संवत् १६१८ आश्विन शुक्ल १० को श्री गिरिधरजी के प्रथम पुत्र श्री मुरलीधरजी का प्राकट्य हुआ।*** कहा जाता है कि जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में राजा रामचन्द्र ने अपने राजगायक 'तानसेन' तथा अन्य गायकों-वादकों के गायन-वादन का जलसा करने का उत्साहपूर्वक निश्चय किया था। किन्तु दैवयोग से प्रभुचरण श्री विट्ठलेश्वर के बड़े भ्राता श्री गोपीनाथजी के लीला-प्रवेश का दुःखद समाचार प्राप्त होने से कार्यक्रम स्थगित हो गया। तथापि 'तानसेन' ने आपके सम्पर्क में आकर आपके आशीर्वाद प्राप्त कर लिए थे। कुछ समय बाद संवत् १६१९-२० में तानसेन का सम्राट् अकबर के दरबार में प्रवेश होना कहा जाता है। संवत् १६२३ में श्री विट्ठलेश्वर मथुरा

---

* *इन रागों की नामावली 'राग और राग संख्या' प्रकरण में देखिए।*

** *इस पद को सुन कर श्री विट्ठलेश्वरजी प्रसन्न हुए और सम्प्रदाय में भी रथ के प्राथमिक पद रूप में इसेअग्रस्थान दिया। यह पद आज भी पुष्टि सम्प्रदाय में मल्हार राग में रथ के दर्शन समय में गाया जाता है।*

*** *'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' में श्री मुरलीधरजी का प्राकट्य संवत् १६३० श्रावण शुक्ला १० लिखा हुआ है।*

से द्वारिका यात्रा के लिए पधारे थे। उसी समय आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधरजी ने श्री नाथजी को कुछ महीनों तक मथुरा पधराया।* उस समय दर्शनार्थ आये हुए आगरा के धनाढ्य सेवक माणकपुर खत्री ने विपुल भेंट-सामग्री अर्पण की। इस भेंट के द्वारा आपने श्रीजी को विविध प्रकार से लाड़ लड़ाये। कहा जाता है कि उस समय फागुन के दिनों में श्री नाथजी बहु-बेटियों के साथ होरी खेले थे। होरी खेल के इन दिनों में स्वयं श्री नाथजी ने मथुरा के रंजनात्मक खेल देखने की इच्छा प्रगट की। भक्तवत्सल प्रभु की आज्ञानुसार श्री गिरिधरजी ने होरी के निकट के दिनों में शयन के दर्शन के समय मथुरा के विविध खेलों के दृश्य उपस्थित किये। उसी समय से अनेक प्रकार के स्वांगों का प्रचलन हुआ। जो आज पर्यन्त चालू है। इन स्वांगों में विविध देश के नृत्य, गान एवं भावात्मक चेष्टाओं द्वारा होली का आनंद व्यक्त किया जाता है। तदुपरान्त ब्रह्मा, महेश, महादेव, इन्द्र आदि देवताओं के मुखौटे पहिन कर नृत्य करते हुए तत्-तत् स्वरूपों का परब्रह्म श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ आगमन का स्मरण कराया जाता है। जिस समय श्री गिरिधरजी ने श्रीजी को मथुरा के सतघरा भवन में पधराया था तभी मथुरा में सूरदासजी भी आये थे। उसी समय बादशाह अकबर से आपकी भेंट हुई थी। श्री विट्ठलेश्वरजी के गुजरात से मथुरा पधारने के समाचार प्राप्त होने पर श्रीजी की इच्छानुसार श्री गिरिधरजी ने श्रीजी को गोवर्धन के मंदिर में पूर्ववत् पधराया।

गुसांईजी प्रभचरण ने गोकुल में स्थायी निवास का निश्चय किया। इस समय के लगभग बादशाह अकबर आपके धार्मिक जीवन एवं विद्वत्ता से प्रभावित हो चुके थे। उन्होंने गोकुल की भूमि श्री गुसांईजी को भेंट कर दी थी। इसी स्थान पर आज का गोकुल बसाया गया और वहां श्री नवनीत प्रभु का मंदिर बनवा कर आपने अपने कुटुम्ब तथा सेवकों सहित स्थायी निवास किया। आपके सप्तम पुत्र श्री घनश्यामजी का संवत् १६२८ में पद्मावती बहुजी से यहीं प्राकट्य हुआ।

तद्नन्तर संवत् १६२१ में आप गोवर्धन से पुनः द्वारिका की यात्रा हेतु गुजरात पधारे। फिर गौड़ प्रदेश की यात्रा पर गये। इस प्रकार आपने चार बार ब्रजमंडल की और छः बार द्वारिका की यात्रा की।

आपश्री अकबर बादशाह के निमंत्रण से दो बार आगरा पधारे थे। प्रथम संवत् १६३४ में पधारे तब आपने साहूकार की पुत्रवधू का बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक न्याय किया था। जिससे प्रसन्न होकर बादशाह अकबर ने आपको 'श्रीगुसांईजी' की उपाधि और न्यायाधीश के अधिकार प्रदान किये थे। आपके वंशज भी गुसांई (गोस्वामी) नाम से प्रसिद्ध होने लगे। दूसरी बार अकबर ने आगरा में तत्त्ववादियों की परिषद् में आपको संवत् १९३८ में आमंत्रित किया। उस समय आपसे

---

* दो महीना और इक्कीस दिन तक।

प्रभावित होकर बादशाह ने गोकुल में निर्भय निवास का तथा गायों के चरने के लिए खालिसा की भूमि का फरमान जारी किया था।

सम्राट् अकबर के अतिरिक्त मुस्लिम राजा दाउद तथा बाज बहादुर भी आपका सम्मान करते थे। हिन्दू राजाओं में राजा मानसिंह, राजा जोधसिंह, राजा भीमसिंह, राजा आशकरण, राजा लाखा, राय पुंजाजी, राजा नारायणदास इत्यादि आपके आज्ञाधीन रहते थे एवं अन्य राजपुरुषों में राजा बीरबल, राजा टोडरमल, राय वृन्दावनदास आदि आपके सेवक थे।

श्री गुसांईजी ने संस्कृत भाषा में अनेक ग्रंथों की रचना की हैं किन्तु आप समझते थे कि सम्प्रदाय का अधिक प्रचार लोक भाषा द्वारा ही होगा। तदतिरिक्त स्वयं श्रीनाथजी ने भी ब्रजभाषा के लिए ही इच्छा प्रकट की थी। अतः आपने अपने सभी सेवकों को सेवा में एवं गद्य-पद्य रचना में ब्रजभाषा का प्रयोग करने का आदेश दिया था। फलतः अष्टछापादि वाग्गेयकारों के अतिरिक्त बहुत से शिष्य-सेवकों की उत्तम काव्य-रचनाएं ब्रजभाषा में प्राप्त होती हैं। जिनका उन महानुभाव कवियों ने सेवा और समयानुसार पदों का शास्त्रीय राग-रागनियों में गान किया, यह सम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध है। यही नहीं सम्प्रदाय की सेवा-कीर्तन-प्रणाली में आज तक उन्हीं के पद गाये जाते हैं, जिनमें से कुछ भक्तों के नाम उल्लेखनीय हैं:–

१. गदाधर मिश्र २. पद्मनाभदास ३. कटहरिया ४. कान्हदास
कृष्णजीवन ६. हृषिकेश ७. गोपालदास (वल्लभाख्यान-कर्ता) ८. लघु गोपाल
९. गंगाबाई ("श्री विट्ठलगिरिधरन" की छाप) १०. चतुर बिहारी ११. जगजीवन
१२. जगन्नाथ कविराय (श्री गुसांईजी के दौहित्र) १३. तुलसीदास जलघरिया
('लालदास' छाप) १४. थिरदास १५. तानसेन १६. घौंघी १७. पर्वतसेन
(राजा) १८. माणिकचंद १९. माधवदास २०. मुरारीदास २१. मेहा २२.
रामदास २३. वृन्दावन २४. व्यास २५. श्यामदास २६. सगुणदास २७.
हरजीवन २८. त्रिलोक २९. रामराय ३०. भगवानहित ३१. यादवेन्द्र ३२.
आशकरण ३३. कृष्णा ३४. गरीबदास ३५. हरिनारायण श्यामदास ३६.
अग्रस्वामी ३७. खेम कवि ३८. धीरज ३९. श्रीपति ४०. विचित्र बिहारी।

इनके अलावा श्री गुसांईजी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथजी, पंचम पुत्र श्री रघुनाथजी, सप्तम पुत्र श्री घनश्यामजी, श्री हरिरायजी ('रसिक' छाप), द्वारकेशजी श्री कल्याणरायजी, श्री ब्रजभूषणजी आदि गोस्वामी महानुभावों ने उत्कृष्ट काव्य रचना की है।

अकबर बादशाह का शाही गवैया तानसेन एक बार श्री गुसांईजी को अपना गायन सुनाने के लिए गया था। उसने श्री गुसांई जी की आज्ञा लेकर राग-लच्छा

साख में गान सुनाया। शाही गवैये तानसेन को आपने रु. ५००-०० पुरस्कार दिया और साथ में एक कौड़ी भी दी। तानसेन द्वारा कौड़ी देने का कारण पूछने पर आपने कहा कि बादशाह के गवैया होने के कारण पांच सौ दिया है किन्तु कौड़ी तुम्हारी बानी सुनके दीन्हीं है। तब तानसेन ने इससे समृद्ध बानी सुनाने की प्रार्थना की। उस समय आपने गोविंद स्वामी को सुनाने की आज्ञा की। गोविंदस्वामी ने दो पद गाये। जिन्हें सुनकर तानसेन चकित हो गये और गोविंदस्वामी से सीखने की इच्छा प्रकट की, किन्तु सम्प्रदाय के सेवक बने बिना वे किसी को सिखाते नहीं थे। अतः तानसेन श्री गुसांईजी के सेवक हुए और श्री गुसांईजी को एक सहस्त्र मुद्रा भेंट की। फिर गोविंदस्वामी से सीखना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार श्री गुसांईजी प्रखर संगीत-ज्ञाता और गायक थे तथा गुणीजनों का सम्मान किया करते थे। अकबर का समय संगीत के इतिहास में स्वर्णयुग कहा गया है। इस स्थिति तक पहुंचाने में अष्टछाप एवं अष्टछाप के संस्थापक श्री गुसांईजी का वास्तविक महत्व आँकने में इतिहासज्ञों ने उपेक्षावृत्ति ही दिखाई है। केवल संगीत कला और काव्य कला ही नहीं अपितु अन्य ललित कलाओं जिनका अकबर के समय में विकास हुआ था, इन सभी का श्री गुसांई जी ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की सेवा में विनियोग कराया। संगीत कला को तो श्रीजी को जगाने से पौढ़ाने तक की सेवा में ओतप्रोत कर दिया।

श्री गुसांईजी ने गीत, वाद्य ही नहीं किन्तु नृत्य को भी सेवा में स्थान देकर संगीत की शास्त्रोक्त तीनो कलाओं का समन्वय किया। २५२ वैष्णवन की वार्ता में (वार्ता-३३) नृत्यकार गोविंददास की वार्ता में निम्न लिखित विवरण उपलब्ध होता है–

गोविंददास वेस्या और भवैया से नृत्य-गान सीखे थे। जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। एक समय श्री गुसांईजी मथुरा विराजे थे तब किसी ने कहा कि श्री गुसांईजी को नृत्य-गान-संगीत अति प्रिय है। यह सुनि के गोविंददास दरशन कों आये। तब आज्ञा किये, जो गोविंददास तुम अपनो नृत्य श्री नवनीतप्रियजी को दिखाओ। ताही समै सिंगार के दर्शन खुले। सो गोविंददास श्री नवनीतिप्रियजी के सम्मुख नृत्य करन लागे। नृत्य करत रस में तदाकार होई गये। वा समै श्री नवनीतप्रियजी ने अलौकिक रीति सों दरसन दिये। (भाव-प्रकाश)

तत्पश्चात् गोविंददास श्री गुसांईजी के सेवक हुए और आपकी खवासी करते तथा गुसांईजी जब श्री नवनीतप्रियजी के शृंगार करते तब घुंघरू बाँध के नित्य श्री नवनीतप्रियजी के आगे नृत्य करते।

एक समय राधाष्टमी के दिन राजभोग के बाद श्री गुसांईजी सपरिवार रावल पधारे थे। तब वहां उत्थापन की झारी भरने के बाद भोग के समय गोविंददास

श्री नवनीतप्रिय प्रभु सम्मुख नृत्य करने लगे, तब रस मग्न हो गये। कुछ सुधि न रही उस समय उनके एक पग का घुंघरू टूट गया। तब श्री नवनीत प्रभु ने स्वयं अपने चरन के नूपुर का घुंघरू बांध दिया।*

लगभग संवत् १६३८ में गुसांईजी ने अपने सातों पुत्रों में अपनी संपत्ति एवं सातों भगवद् स्वरूपों को विभाजित कर दिया। सातों भाइयों को समान अधिकार देते हुए बड़े पुत्र गिरिधरजी को श्री नाथजी और श्री नवनीतप्रियजी के स्वरूप का विशेष अधिकार सौंपा गया अन्य सातों स्वरूपों का विभाजन निम्नलिखित कोष्टक से ज्ञात होगा।

पुत्रों के नाम	स्वरूपों के नाम	वर्तमान में कहाँ विराजते हैं
१. श्री गिरिधरजी	श्री मथुरेशजी	कोटा
२. श्री गोविंदरायजी	श्री विट्ठलनाथजी	नाथद्वारा
३. श्री बालकृष्णजी	श्री द्वारिकाधीशजी	कांकरोली
४. श्री गोकुलनाथजी	श्री गोकुलनाथजी	गोकुल
५. श्री रघुनाथजी	श्री गोकुलचंद्रमाजी	कामवन
६. श्री यदुनाथजी	श्री बालकृष्णजी	सूरत
७. श्री घनश्यामजी	श्री मदनमोहनजी	कामवन

साथ ही अष्टछाप के अष्ट कीर्तनकारों को भी प्रत्येक स्वरूप की मुख्य कीर्तन सेवा में विभाजित किया गया। जो निम्न प्रकार के उल्लेख से ज्ञात होता है-**

१. श्रीनाथजी के यहां कुंभनदासजी
२. श्री नवनीतप्रियजी के यहां परमानंददासजी
३. श्री मथुरेशजी के यहां सूरदासजी
४. श्री विट्ठलेश्वरायजी के यहां छीतस्वामी
५. श्री द्वारिकानाथजी के यहां गोविंदस्वामी
६. श्री गोकुलनाथजी के यहां चतुर्भुजदासजी
७. श्री मदनमोहनजी के यहां कृष्णदासजी

---

* *वार्ता* ३३ प्रसंग-१

** षट ऋतु की *वार्ता*-पृष्ठ-५३

इस प्रकार सातों स्वरूपों का बंटवारा करने के पश्चात् भी सातों बालकों की इच्छानुसार गोकुल में सातों स्वरूपों को एक ही साथ पधराकर राजभोग के भावात्मक प्रकार के रूप में छप्पन भोग की सामग्री आरोगाने का मनोरथ किया था। उस समय अष्टसखा आदि कीर्तनकारों के एकत्रित होकर समूह कीर्तन-गान से श्री गुसांईजी एवं सातों बालक अति प्रसन्न हुए।

श्री गुसांईजी ने 'विद्वन्मंडन' आदि ५० ग्रन्थों की रचना की और टीकाएं लिखीं जिनमें अपूर्व पांडित्य प्रदर्शित किया है। आपकी २८ बैठकें सुप्रसिद्ध हैं। पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के प्रचार में आप जाति-पांति के भेद-भाव के कट्टर समर्थक नहीं थे। उन्होंने तानसेन, रसखान, अलीखान, ताज प्रभृति मुसलमान और मोहन अछूत को भी भक्तिमार्ग का उपदेश देकर सेवक बनाया था। संवत् १६४२ फाल्गुन कृ. ७ को श्रीकृष्ण-भक्ति द्वारा समस्त कलाओं के पोषक, प्रकाण्ड विद्वान्, कलाकार श्री विट्ठलनाथजी जतीपुरा में गिरिराज की एक कंदरा में प्रवेश कर गोवर्धननाथ में सदेह लीन हो गये ।

संगीत के इस स्वर्णयुग में संगीत कला का व्यवस्थित रूप में पुनरुद्धार करने का श्रेय राजकीय क्षेत्र में सम्राट् अकबर को और धार्मिक क्षेत्र में श्री विट्ठलनाथजी को ही दिया जा सकता है।

अष्टछाप के संस्थापक एवं भारतीय शास्त्रीय संगीत के पुनरुद्धारक तथा भक्ति-संगीत के प्रणेता गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी के तिरोधान समय तक अष्टछाप के पांच कीर्तनकारों का लीला-प्रवेश हो चुका था।

कृष्णदास अधिकारी का संवत् १६३६-३७ में, श्री कुंभनदासजी का संवत् १६४० में, श्री सूरदासजी का संवत् १६४० में, श्री परमानंददासजी का संवत् १६४१ में तथा श्री नंददासजी का संवत् १६४० में गोलोक वास हुआ।

पश्चात् श्री विट्ठलेश्वर के तिरोधान से संतप्त होकर आपके विरह में आपके सेवक संगीताचार्य गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास ने लगभग उसी समय संवत् १६४२ में ही भगवद् लीला में प्रवेश किया। इस प्रकार आपके तिरोधान के साथ अष्टछाप के आठों महानुभाव भक्तों का भी तिरोधान हो गया। इनमें से प्रत्येक ने अपना समस्त जीवन श्रीनाथजी की एकनिष्ठ भाव-भक्ति पूर्वक कीर्तन-सेवा करने में व्यतीत किया था। भारतीय संगीत की प्राचीन कला के द्रुपद, धमार आदि प्रबन्ध गान की हजारों चीजों की रचना और उसकी बंदिशों से भारतीय संगीत को समृद्ध बनाने का श्रेय अष्टछाप के संस्थापक गोस्वामी विट्ठलनाथजी प्रभुचरण एवं अष्टछाप के वाग्गेयकार वैष्णव महानुभावों को है। भारतीय संगीत के विकास में इनका योगदान अविस्मरणीय एवं स्वर्णाक्षरों अंकित किये जाने योग्य है।

अष्टछाप का संक्षिप्त परिचय-कोष्टक

	नाम	जन्म संवत्	जाति	दीक्षा-गुरु	शरणागतिकाल	स्थायी निवास
१.	कुंभनदास	१५२५	गौरवा क्षत्रिय	श्री वल्लभाचार्यजी	सं. १५५६	जमुनावतो
२.	सूरदास	१५३५	सारस्वत ब्राह्मण	"	१५६७	परासौली
३.	कृष्णदास	१५५३	कुनबी पटेल	"	१५६८	बिलछूकुंड
४.	परमानन्ददास	१५५०	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	"	१५७७	सुरभीकुंड
५.	गोविन्दस्वामी	१५६२	सनाढ्य ब्राह्मण	श्री विट्ठलनाथजी	१५९२	कदमखंडी
६.	छीतस्वामी	१५७३	मथुरिया चौबे	"	१५९२	पूछरी
७.	चतुर्भुजदास	१५८७	गौरवा क्षत्रिय	"	१५९८	जमुनावतौ
८.	नंददास	१५९०	सनाढ्य ब्राह्मण	"	१६०७	मानसीगंगा

	नाम	लीलात्मक नाम	स्वरूपासक्ति	कीर्तन समयासक्ति	श्रृंगारासक्ति	तिरोधान समय
१.	कुंभनदास	अर्जुन सखा	श्री गोवर्धननाथजी	राज भोग समय	कुल्हे	संवत् १६४०
२.	सूरदास	कृष्ण सखा	श्री मथुरेशजी	उत्थापन	पाग	संवत् १६४०
३.	परमानन्ददास	तोक सखा	श्री नवनीतप्रियाजी	मंगला समय	ग्वाल पगा	संवत् १९४१
४.	कृष्णदास	ऋषभ सखा	श्री मदनमोहनजी	शयन समय	मुकुट	संवत् १६३६
५.	गोविन्द स्वामी	श्रीदामा सखा	श्री द्वारिकाधीश	ग्वाल समय	टिपारा	संवत् १९४२
६.	छीत स्वामी	सुबल सखा	श्री विट्ठलनाथजी	संध्यार्ति	सेहरा	संवत् १९४२
७.	चतुर्भुजदास	विशाल सखा	श्री गोकुलनाथजी	भोग समय	हुमाला	संवत् १९४२
८.	नन्ददास	भोज सखा	श्री गोकुलचंद्रमाजी	श्रृंगार समय	फेंटा	संवत् १६४०

इन सातों स्वरूपों के मन्दिर श्री गुंसाईजी के कुछ समय बाद तक जतीपुरा में और गोकुल में विद्यमान थे, ये औरंगजेब के समय में मूर्तियों को नष्ट करने का उपद्रव होने पर गुप्त रूप से हिन्दु राजाओं के राज्य में पधराये गये ।

पुष्टिमार्गीय संगीत

पुष्टिमार्गीय संगीत का विषयारंभ करने के पूर्व प्रथम-भाग में भक्ति एवं संगीत का अति-प्राचीन काल से ई. स. की चौदहवीं शताब्दी तक का हम संक्षिप्त ऐतिहासिक अवलोकन कर चुके हैं। अतः द्वितीय-खंड में पुष्टिमार्गीय हवेली-संगीत के उद्‌गम काल से लेकर आधुनिक काल तक की चर्चा करने से पूर्व सर्व-प्रथम पुष्टि-मार्ग-संस्थापक श्रीमद्‌वल्लभाचार्यजी को सहस्रावधि वंदन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

पुष्टिमार्गीय संगीत के उद्‌गम एवं परम्परा के शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक अवलोकन की सरलता के लिये सम्प्रदाय के ४५० वर्ष को निम्नलिखित तीन विभागों में बाँटना उचित होगा—

१. प्रारंभिककाल–१५० वर्ष (संवत्-१५५६ से १७०६) ई.स. १५०० से १६५०।
२. मध्यकाल–१५० वर्ष (संवत्-१७०७ से १८५६) ई.स. १६५१ से १८००।
३. उत्तरकाल–१५० वर्ष (संवत्-१८५७ से २००६) ई.स. १८०१ से १९५०।

प्रारंभिक काल की चर्चा को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार से तीन युगों में विभाजन करना उपयुक्त होगा—

(१) प्रथम-चरण (श्री वल्लभ-युग) ई. स. १५०० से १५३० (वर्ष-३०)।
(२) द्वितीय-चरण (श्री विट्ठलेश-युग) ई. स. १५३१ से १५९० (वर्ष-६०)।
(३) तृतीय-चरण (श्री गोकुलेश-युग) ई. स. १५९१ से १६५० (वर्ष -६०)।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन-संगीत का आरम्भ-काल

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी की प्रथम भारत यात्रा के समय गोवर्धन गिरिराज पर भगवद्स्वरूप का प्राकट्य हो चुका था और ब्रजवासी "देवदमन" के नाम से श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा-दर्शन करते थे। लगभग छः वर्षों के बाद श्रीवल्लभाचार्यजी जब पुनः गोवर्धन पधारे तब आपने उस स्वरूप का नाम श्रीनाथजी या गोवर्धननाथजी रखा। वहाँ छोटा-सा कच्चा मंदिर बनवाकर उसमें श्रीनाथजी को पधराया। (सं. १५५६ ई. स. १५००) उसी समय सदु पांडे, रामदास चौहान तथा कुंभनदास आदि ब्रजवासी श्रीवल्लभाचार्यजी के सेवक हुए। सद्दू पांडे तथा रामदास चौहान को श्रीनाथजी का भोग (सामग्री) श्रृंगारादि दैनिक सेवा का कार्य सौंपा गया और कुंभनदासजी को श्रीनाथजी के सन्मुख कीर्तन (संगीत) की सेवा में नियुक्त कर दिया गया। इस प्रकार पुष्टिमार्गीय सेवा के मुख्य भोग, राग और श्रृंगार (सामग्री, संगीत और सिंगार) तीन अंगों का प्रकार प्रारंभ से ही नियत किया गया। सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के इन तीनों प्रकारों में हमारा विषय पुष्टिमार्गीय संगीत (कीर्तन) प्रकार होने से सम्प्रदाय के सर्व प्रथम कीर्तनकार ही नहीं वाग्गेयकार एव संगीताचार्य श्रीकुंभनदासजी की जीवन-चर्चा पुष्टिमार्गीय संगीत (कीर्तन) कला की दृष्टि से करना उचित होगा ।

संगीताचार्य श्रीकुम्भनदासजी

श्री कुंभनदासजी का जन्म स. १५२५ (ई.स. १४६९) में "जमुनावता" ग्राम में हुआ था। वे गौरवा-क्षत्रिय जाति के थे। बाल्यकाल से ही सत्संग, अध्ययन, कथा-कीर्तनादि के श्रवण का अवसर उन्हें उनके धर्मशील काका "धर्मदास" द्वारा प्राप्त होता रहता था। उनका मधुर कंठ था। रचना और गायन-कला का सामान्य ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो चुका था। किन्तु श्रीवल्लभाचार्यजी जैसे समर्थ गुरु की कृपा प्राप्त होने और श्री भगवान्-गोवर्धनधरण के सन्मुख होते ही उनके पूर्वज्ञान की धारा सरिता के रुप में बहने लगी। वे कुटुंब का निर्वाह कृषि द्वारा करते थे और सीधे-साधे सामान्य ब्रजवासी की रीति से रहते थे। पुष्टिमार्गीय संगीत के अष्ट आद्य कीर्तनकारों में सर्वप्रथम कीर्तनकार का सम्मान श्री कुंभनदासजी को प्राप्त है। उन्हें काव्य एवं संगीत का ज्ञान किस प्रकार हुआ, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। किन्तु अनुमानतः फकीसल्ला के कथनानुसार राजा मान के गायक-वादक गंगा किनारे कुरुक्षेत्र से स्नान करने के लिए आया करते थे। इन अवसरों पर संभवतः बालक कुंभनदास भी उनके चाचा के साथ जाते थे। किन्तु दीक्षा-गुरु के सिद्धान्तोपदेश से भक्ति-भाव का उन्मेष होना एवं भगवान् श्रीनाथजी के दर्शन से काव्य और संगीत की दिव्य अनुभूतियों का हृदय में प्रकाशित होना असंभव नहीं है।* विशुद्ध प्रेम-भक्ति का दिव्य प्रभाव आपके सात्विक हृदय तक पहुँच चुका था। नित्य नई पद-रचना और गान द्वारा अपने सुमधुर कंठ से प्रभु को रिझाने में ही उन्हें परमानंद-प्राप्ति का अनुभव होने लगा।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने जब कुंभनदासजी को भगवल्लीलात्मक कीर्तन गाने का आदेश दिया, तब श्री कुंभनदासजी ने श्री गोवर्धननाथजी को दंडवत् प्रणाम करके निम्नलिखित पद का राग-बिलावल ताल-धमार में गान किया।**

स्थायी – **"सांझके साँचे बोल तिहारे ॥**
अंतरा – **"रजनी अनत जागे नंदनंदन, आये निपट सवारे ॥१॥**
संचारी– **"आतुर भये नील पट ओढें, पीरे बसन बिसारे।**
आभोग– **"कुंभनदास प्रभु गोवर्धनधर, भलेजु बचन प्रतिपारे ॥२॥**

---

* *"सो यह कीर्तन सुनिके श्रीआचार्यजी आपु कहे जो –कुंभनदास निकुंज लीला संबंधी रसको अनुभव भयो तब कुंभनदासने दंडवत् कीनी और कह्यो जो महाराज "आपुकी कृपासे" प्राचीन वार्ता रहस्य–भाग-२ पृ १०८*

** *यह पद आजतक प्रायः उष्णकाल में खंडिता के पद-गान के समय गाया जाता है।*

एक समय श्री गोवर्धनधरण "टोंड के घने" में पधारे थे। तब श्री कुंभनदासजी ने राग-मालकोंस के द्रुपद गान से श्रीनाथजी को अति प्रसन्न किया था। * ताल-सूलताल** अथवा चोताल–

स्थायी.–**"बोलत स्याम मनोहर बैठे कमल खंड कदंब की छहियाँ।"**
अंतरा.– **"कुसुमित द्रुम अलि-कुल गुंजत सखि कोकिल-कल कूजत तहियाँ।**
सं.–**सुनत दूतिका की वचन माधुरी, भयो उल्लास जाके मन महियाँ।"**
आ.–**"कुंभनदास" ब्रज-कुंवरि मिलन चली, रसिक कुंवर गिरिधर वहियाँ।**

शीघ्र ही म्लेच्छ का उपद्रव शान्त होने के बाद श्री गोवर्धननाथजी को "टोंड के घने" (वृक्षों की घटा-दार निकुंज) से श्री गिरिराज पर अपने मंदिर में यथास्थान विराजमान किया। *** तब कुंभनदास ने श्रीनाथजी के सम्मुख राग "श्री" में प्रथम गिरिराजजी, श्रीनाथजी तथा ब्रजभूमि का महात्म्य-गान और दूसरा "रास" लीला का पद-गान किया। ताल-चर्चरी की बंदिश के दोनों पद आज भी सम्प्रदाय की प्रणाली में गाये जाते हैं। जो निम्न प्रकार है:—

स्थायी.–**"जयति जयति श्री हरिदासवर्यधरणे।**
अं. **"वारि वृष्टि निवारि धोख-आरति टारि, देव-पति अभिमानभंगकरणे।"**
सं. **"जयति पट पोत दामिनि रुचिर वर मृदुल, अंग सांवल सजल जलद-वरणे।"**
आ. **"कर अधर बेनु धरि गान कलरव शब्द, सहज ब्रजयुवतिजन चित्तहरणे।"**
सं **"जयति वृन्दाविपिन भूमि डोलनि अखिल लोक वंदनि अंबुरुहचरणे।"**
आ. **"तरनि-तनया बिहार नंदगोप कुमार, दास "कुंभन" नवत तवश्री सरने।"**

---

* तृतीय गृह (कांकरोली) की प्रणाली में यह कीर्तन चैत्र सुदी ३ (गनगौर-त्यौहार) के रोज सिंगार के ओसरा के समय राग-मालकौंस में ही गाया जाता है। (तृतीय गृह कीर्तन प्रणालिका पृ. २५।)

** लेखक की परंपरानुसार यह पद सूलताल में गाया जाता है।

*** "टोंडके घने" का स्थान जतीपुर से गुलाल कुण्ड होकर नहर की पटली-पटली सात फर्लांग दूर है। वहाँ श्रीनाथजी की बैठक, छोटा सा कुंड और श्यामतमाल, कदम आदि प्राचीन वृक्षों की घनी छटा दर्शनीय है।

† "श्री" राग संध्या समय गाया जाता है अतः श्रीनाथजी का टोंडके घने से आकर गिरिराज पर पधारने का समय संध्या काल का होना स्पष्ट होता है।

(२)

स्थायी "(कृष्ण) तरनि-तनया तीर रास मंडल रच्यौ
अधर * कर मधुर ** सुर बेजु बाजे"
अंतरा–"जुवतिजन जूथ संग, नृत्यत अनेक रंग,
निरखि अभिमान तजि काम लाजै" ।।१।।
संचारी–"स्याम तन पीत कौसेय पद नख रुचिर,
चंद्रिका सकल भुवि तिमिर भाजै"
आभोग–"ललित अवतंस भ्रुव धनुष लोचन चपल,
चितवनि जनु मदन-बान साजै ।।२।।
संचारी–"मुखर मंजीर कटि किंकिनी क्वनित रव,
वचन गंभीर मानों मेघ गाजै"
आभोग–"दास "कुंभन" नाथ हरिदासवर्यधर,
नखसिख सुरूप अद्‌भुत बिराजै" ।।३।।

कुंभनदासजी की किशोर–लीला-भाव की पद-रचना एवं गायन-कला की ख्याति सुनकर राधावल्लभ सम्प्रदाय के आद्यस्थापक, संगीतज्ञ एवं कवि श्रीहितहरिवंशजी ने एक बार कुंभनदासजी के पास आ कर कहा–"तुम्हारे जुगल स्वरूप के कीर्तन बहुत सुने, परि कृपा करिकें कोई पद श्रीस्वामिनीजी को सुनावो।" तब कुंभनदासजी ने प्रात: काल के समयानुसार राग-रामकली, ताल-चर्चरी में निम्नलिखित पद सुनाया–

"कुंवरि राधिका तुव सकल–सौभाग्य सींव,
बदन पर कोटि–सत चंद्र वारों ।।
"खंजन कुरंग सत–कोटि नैनन ऊपर, वारनें करत जियमें न विचारों ।।१।।
"कदली सत कोटि जंघनि ऊपर वारनें, सिंह सत-कोटि कटि पर उतारों ।।
"मत्त गज कोटि सत चाल पर कुंभ सत कोटि इनि कुचनि पर वारि डारों ।
"कीर सत–कोटि नासा ऊपर कुंद सत कोटि दसननि ऊपर कहि न पारों ।।
"पक्व किंदूर बंधूक सत–कोटि अधरनि ऊपर वारि रुचि गर्व टारों ।।३।।
"नाग सत–कोटि बेनी ऊपर कपोत सत कोटि ग्रीवा पर वारि दूरि सारों ।।
"कमल सत कोटि कर जुगल पर वारने, नाहिंन कोऊ कोक उपमाजु धारों ।।४।।
"दास "कुंभन" स्वामिनी सुनख–सिख अंग अद्‌भुत सुहान कहां लगी संभारों ।।
"लाल गिरिवरधरन कहत मोहि तौलों सुख, जोलों वह रूप छिनु-छिनु-निहारों ।।५।।

संगीत–कला और साहित्यिक पद–रचना के उत्कर्षार्थ श्री गुसांईजी ने सं. १६०२ में अष्टछाप की स्थापना की तब कुंभनदासजी को इसमें आदर पूर्वक सम्मिलित किया गया था। कुंभनदासजी के उच्च साहित्यिक एवं संगीतमय पद-रचना

पाठांतर। * *कल* ** *धनि.*

के लालित्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक पहुँच गई थी। संत महात्माओं से लेकर राजा महाराजा भी इनकी संगीत–बद्ध पद-रचना से मुग्ध होकर इनके दर्शनों की इच्छा रखते थे।

कुंभनदासजी के विशाल कुटुंब के निर्वाह का साधन मात्र थोड़ी सी खेती ही थी। निर्धन दशा होते हुए भी किसी के सामने हाथ पसारना तो क्या, सम्मानपूर्वक दिए हुए द्रव्यादि को भी इन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया था। उनकी प्रसिद्धि निर्लोभता एवं श्रीगोवर्धनधरण के प्रति तन्मयता की घटनाओं में राजा मानसिंह और सम्राट् अकबर से मिलने की घटना तथा श्रीगुसांईजी के द्वारा अपने साथ यात्रा में ले जाने की आज्ञा का प्रसंग विशेष महत्वपूर्ण है।

सं. १६२० (ई.स. १५६४) के लगभग सम्राट अकबर का सेनापति राजा मानसिंह मथुरा वृन्दावन की यात्रा करते हुए गोवर्धन में श्रीहरदेवजी के दर्शन करके श्रीनाथजी के दर्शनार्थ जतीपुरा आया। भोग के दर्शन का समय था। उस समय कुंभनदासजी भक्तिभावपूर्वक श्रीनाथजी के सम्मुख मृदंग के साथ तुंबूर (बीणा) पर राग-नट में निम्नलिखित पद गा रहे थे।

स्थायी–**"रूप देखि नैना पलक लागे नहीं।**
अंतरा–**"गोवर्धनधर के अंगअंग प्रति, दृष्टि परत चित रहत तहीं तहीं**
संचारी–**"कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मन मांगि वे दहीं ॥**
आभोग–**"कुंभनदास" प्रभुके मिलावेकी, सुंदर बात सखियनुसों कही ॥२॥**

पश्चात् संध्याआरती के दर्शन समय राग-गौरी में निम्नलिखित पद-गान किया—

स्थायी–**"आवत मोहन मनजु हर्यो**
अंतरा–**"हौं अपने गृह सँचुसों बैठी, निरखि बदन अचरा बिसर्यो ॥१॥**
संचारी–**"रूपनिधान रसिक नंदनंदन, देखि नयन धीरज न धर्यो ॥**
आभोग–**"कुंभनदास" प्रभु गोवर्धनधर, अंग-अंग प्रेम पियूष भर्यो ॥२॥**

समयानुसार रागों में इनका सुमधुर गान सुनकर राजा मानसिंह इतने प्रभावित हुए कि दूसरे दिन प्रातःकाल ही उनसे मिलने के लिए "जमुनावता" गया। कवि के घर जा कर अभिवादन के साथ कहा कि कल मंदिर में आपका अमृतमय संगीत सुनकर अति प्रसन्न होकर आज महानुभाव के दर्शनार्थ और परिचयार्थ यहाँ आया हूँ। उस समय कुंभनदासजी अपनी भतीजी से आसन और आरसी लाने के लिए कह रहे थे। भतीजी ने घास के पूले का आसन बिछा दिया और आरसी के अभाव में दोने में पानी भरकर रख दिया।

इस प्रकार कुंभनदासजी की गरीबी देखकर मानसिंह को आश्चर्य के साथ ही इस भक्त गायक के प्रति विशेष आदरभाव उत्पन्न हुआ। उसने कुंभनदासजी से अपनी सुवर्ण जटित आरसी स्वीकार करने का आग्रह किया। यही नहीं, एक सहस्र मुद्राओं की थैली तथा जमुनावता ग्राम का पट्टा और आर्थिक व्यय चलाने के लिये साहूकार के यहाँ भुगतान का स्थायी प्रबन्ध करने का आदेश भी दिया, किन्तु त्यागमूर्ति और निस्पृह गायक भक्त श्री कुंभनदासजी ने कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं की। राजा मानसिंह कई सन्तों के तथा गृहस्थ और विरक्त संगीतकारों के सम्पर्क में आया था। पर जीवन में पहली बार ऐसे भक्त-संगीतकार एवं परम त्यागी गृहस्थ को देख कर राजा दंग हो गया और प्रणाम कर वहाँ से बिदा हुआ। उसने कहा–"मैंने विरक्त त्यागी तो बहुत देखे किन्तु ऐसा गृहस्थ त्यागी पहली बार देखा है।"

एक समय श्रीविट्ठलनाथजी (गुसाईजी) ने वैष्णव-भक्तों के सहयोग से इनके आर्थिक कष्ट दूर कराने के उद्देश्य से कुंभनदासजी को अपने साथ द्वारिकापुरी की यात्रा में चलने का आदेश दिया। पूज्य गुसांईजी की आज्ञा-पालन को कर्तव्य समझ कर उनके साथ ये चल तो दिये, किन्तु इनका मन श्रीनाथजी में लगा हुआ था। अप्सरा-कुंड पर यात्रा का पहला पड़ाव हुआ। उत्थापन का समय होने पर कुंभनदासजी श्रीजी की कीर्तन-सेवा और दर्शन के विरह में विह्वल हो गये। ये आँसू भरे नेत्रों से राग-सारंग अठताल में गाने लगे–

"किते दिन व्है जु गये बिनु देखे ।

"तरुन किसोर रसिक नंदनंदन, कछुक उठति मुख रेखें ॥१॥
"वह सोभा वह कांति बदन की कोटिक चंद बिसेखें ॥
"वह चितवन वह हास्य मनोहर, वह नटवर वपु भेखें ॥२॥
"स्याम सुंदर संग मिल खेलन की, आवत जिये अमेखें ॥
"कुंभनदास" लाल गिरिधर बिन, जीवन जनम अलेखें ॥३॥

कुंभनदास की यह दशा देख कर श्रीविट्ठलनाथजी ने कहा– "कुंभनदास! तुम्हारी यात्रा हो चुकी। मंदिर में जाओ और श्रीजी के दर्शन और कीर्तन की सेवा करो।"

एक समय किसी कलावंत ने फतहपुर सीकरी में कुंभनदासजी से सीखा हुआ धनाश्री राग का निम्नांकित पद सम्राट अकबर को सुनाया––

"देखरी आवती मदनगोपालकी ।

"सक्र–वाहन मत्त निरखि लाजत जिय, गति अनूप लटक चालकी

"स्याम तन कटि बसन मन हरत, सुंदरता उरसि भालकी ॥

"भौंह धनु साजि मानों मदन-सर चितवनि लोचन विसालकी
"रेनु मंडित कुटिल अलक सोभा तिलक–कस्तूरी भालकी ।।
"दास "कुंभन" चारु हास मोहै जगत, गोवर्धनधर कुंवर लालकी

इस पद की रचना-माधुरी से अकबर अति प्रसन्न हुआ और उसके मन में पद के रचयिता से मिलने की तीव्र इच्छा हुई। दूसरे दिन कुंभनदासजी को बुलाने के लिए घोड़ा और पालकी सहित कुछ सैनिकों को परासौली रवाना किया । खेत पर गये हुए कुंभनदासजी को खोजते हुए सैनिक वहीं पर पहुँच गये और बादशाह के पास चलने की प्रार्थना की। इस निमंत्रण से उन्हें बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने कहा---"मैं श्रीनाथजी के पद-गान की सेवा छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहता" ।

सैनिकों ने पुनः कहा कि "सम्राट अकबर गुणग्राही हैं। राज वैभवों के प्रखर ठाठ-बाठ में भी संगीत-साधक गुणीजनों की बहुत कद्र करते हैं। आपका भक्तिमय संगीत सुनने के लिए वे बड़े उत्सुक हो रहे हैं। आपके लिए घोड़ा पालकी तैयार हैं। आपको चलना ही पड़ेगा।" कुंभनदासजी ने सोचा कि सैनिकों को तो राजाज्ञा का पालन करना ही होगा और अतः मुझे अनिच्छा होते हुए भी जाना ही पड़ेगा। यही सोचकर आपने कहा "मैं मूक पशुओं और पालकी वाहक मानवों को कोई कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता मैं तुमारे साथ पैदल ही चलूँगा।"

बादशाह से मिलने के लिए लोग सजधज कर ठाठ से जाते हैं। किन्तु यह निस्पृह भक्त-गायक फटी पाग, सामान्य सी अंगरखी, ऊंची धोती, पुरानी अंगोछी, टूटी पन्हैया और टेढ़ी लकुटी लिये ऐसे ही स्वरूप में भगवन्नाम गुनगुनाते हुए पैदल ही फतहपुर सीकरी पहुँचे। रावटी में मोतियों की झालरों, मखमली गलीचों, विविध प्रकार के इत्रों की सुगंधित लपटों तथा सोने चाँदी के सिंहासनों को देख कर उनका वैराग्य उद्दीप्त हो गया और श्रीगोवर्धनधरण के बिना सारा राजकीय वैभव उन्हें झूठी माया का बिलासी धाम जैसा भासने लगा।

बादशाह ने आदर-सत्कार करके कहा –"आप महागायक हैं, मैंने आपकी प्रशंसा सुनी है। यही नहीं आपकी संगीतमय पद-रचना अन्य कलावंतों से सुनकर बड़ी ही प्रसन्नता का अनुभव किया है। आज आप इस दरबार में नवीन पद-रचना के साथ आपकी संगीत प्रसादी का अमूल्य रस पान कराइये"। संगीत सुनाने का निर्देश पाकर कुंभनदासजी द्विविधा में पड़ गये। उन्हें श्री नाथजी की संगीत सेवा का स्मरण हो आया। विवशता के साथ तानपूरा हाथ में लिया, तार झनझनाये और आपने अपने कंठ माधुर्य की स्वरलहरियों से सारे दरबार को विमुग्ध कर दिया। पद-गान की स्थायी और अंतरा की धुन सुनते ही दरबारी सब झूमने लगे। पद-रचना के शब्द इस प्रकार थे––

"भक्तको कहा सीकरी सों काम"
"आवत जात पन्हैयां टूटी, बिसर गयो हरिनाम ॥१॥
"जाको मुख देखे दुख उपजै, ताकों करनी परी प्रमाण ।
"कुंभनदास"लाल गिरिधर–बिनु, यह सब झूठौ धाम ॥२॥

संगीत के प्रभाव से अकबर सहित समस्त श्रोतृवृन्द अत्यन्त प्रभावित हो चुका था, किन्तु पद-रचना की संचारी और आभोग (तीसरी तथा चतुर्थ पंक्ति) के शब्द सुन कर दरबारी चकित हो गये। संचारी-गान (तीसरी पंक्ति) के शब्द सम्राट के लिए अत्यधिक अपमान-जनक थे। सभी सोचते थे कि इनको भारी दंड मिलेगा, किन्तु गुणग्राही बादशाह अकबर ने उस निर्लोभी, निर्भीक और त्यागी संत महानुभाव का आदर ही किया। लौटकर श्रीनाथजी के दर्शन करते ही कुंभनदासजी का क्लेश दूर हो गया और उन्होंने श्रीगोवर्धनधरण के सम्मुख धनाश्री राग में (१) नैन भरि देखे नन्दकुमार तथा (२) हिलगन कठिन है या मन की। ये दोनों पद गाकर अपनी विरह व्यथा शान्त की। यह घटना अनुमानतः संवत १६३८ के लगभग हुई थी।

वि. सं. १५५६ में कुंभनदासजी ने श्रीनाथजी के सम्मुख कीर्तन-गान आरंभ किया और अपने जीवन के अन्त (सं.१६४०) तक श्रीगोवर्धनधरण को संगीत सुनाते रहे। उन्होंने नित्यसेवा क्रम, वर्षोत्सवादि प्रायः सभी प्रकार के कीर्तनों की रचना की है, किन्तु खंडिता, सुरतांत, मान, आसक्ति, विरह के पदों में जुगल-स्वरूप की भावनासक्ति प्रीति अनुराग विशेष दिखाई देता है। आप भावमग्न होकर विशुद्ध रागों में गाते गये और उनकी स्वर-रचना और काव्य-रचना बनती गयी।

राग-रागिनी :

श्रीकुंभनदासजी के गाए हुए रागों के निम्न प्रकार पाये जाते हैं:—

(१) भैरव, (२) रामकली, (३) रामग्री, (४) देवगंधार, (५) ललित, (६) विभास, (७) बिलावल, (८) टोडी, (९) आसावरी, (१०) धनाश्री, (११) जैतश्री, (१२) सामेश्री, (१३) वसंत, (१४) पंचम, (१५) मालकौस, (१६) सारंग, (१७) सोरठ, (१८) मल्लार, (१९) मेघमलार, (२०) सोरठ-मलार, (२१) नट, (२२) नटनारायण, (२३) गौरी, (२४) मालवगौरी, (२५) श्री, (२६) मालव, (२७) पूर्वी, (२८) हमीर, (२९) ईमन, (३०) कल्याण, (३१) केदारा, (३२) कानरा, (३३) बिहागरो,

ताल

पद में गाए हुए प्राचीन तालों के नाम भी इस प्रकार प्राप्त होते हैं:——

१. इकताल, २. चर्चरीताल, ३. अठताल, ४. बनिनारू, ५. ध्रुवताल, ६. त्रिवद (त्रिपद)।

पारिभाषिक शब्द :

श्री कुंभनदासजी के पद-गान में संगीत शास्त्र के निम्नलिखित पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं:——

१. नाद, २. संगीत, ३. स्वर, ४. सप्तक, ५. राग, ६. सप्तसुर, ७. तान, ८. मान, ९. ताल, १०. कालगति, ११. जाति, १२. सरगमपद्धति, १३ झालप सुल्लप, १५. उरप, १६. तिरप, १७. लाग, १८. हार, १९. अनीत. २०. २१. अवध, २२. अकाव-लाग, २३. धुनि (ध्वनि), २४. अलाप. २५. संचगति, २६. नृत्य, २७. नृत्त, २८. हस्तकभाव, २९. तांडव, ३०. णिह-गिड तत-युंग-युंग, ३१. ताता तत थैई इत्यादि, ३२. ततकारि।

वाद्य-नाम

श्रीकुंभनदासजी के पद-गान में वाद्यों के नाम इस प्रकार मिलते हैं:——(१) सुरबीन, (तंबूर) (२) बीना (वीणा), (३) ढोल, (४) मृदंग, (५) डफ, (६) आवज, (७) उपंग, (८) चंग, (९) पखावज, (१०) अघौरी, (११) किन्नरी, (१२) झांझ, (१३) ताल, (१४) बेनु, (१५) मुरली, (१६) बांसुरी, (१७) शंख, (१८) बंस इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार संवत १५५६ (ई.स. १५००) से लेकर १६४० तक के अपने जीवन-पर्यंत ऋतु और समयानुसार श्री गोवर्धनधरण की कीर्तन सेवा में राग, ताल सहित अनेक भावात्मक पदों का गान किया। आप के लगभग ४०० पद आज प्रचलित हैं। आप संगीत विद्या में निष्णात थे। आप पुष्टिमार्ग के आद्य संगीतकार कहे जा सकते हैं।

संगीताचार्य भक्त कविवर सूरदासजी

अष्टछाप संगीताचार्यों में श्री सूरदासजी सुप्रसिद्ध हैं। "सूर सूर तुलसी ससी" इस के उक्ति अनुसार "सूर" को सूर्य समान तेजस्वी महाकवि माना गया है। वे साहित्य और संगीत क्षेत्र में अद्वितीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। सूरदास के चार-पाँच उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनमें मुख्यतः तीन सूरदास सुप्रसिद्ध हैं—(१) बिल्वमंगल सूरदास, (२) सूरदास मदनमोहन और (३) अष्टछाप के सूरदास ।

इन तीनों में हमारे चरित्र नायक सूरदास अष्टछाप के मुख्य नायक तथा श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। इनका जन्म सं. १५३५ (ई. स. १४७९) के वैशाख शुक्ल-पंचमी को दिल्ली के पास मथुरा रोड़ पर वल्लभगढ़ से दो मील दूर सीहीं नामक गाम में सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रामदास माना जाता है किन्तु "आईने अकबरी" में अकबर के दरबारी गवैयों की सूची में ग्वालियर निवासी जिन रामदास और उनके पुत्र सूरदास का नामोल्लेख मिलता है, उसका हमारे सूरदास से कोई संबंध सिद्ध होता नहीं है।

अष्टछाप के सूरदास जन्म से ही अंध थे। उनके माता पिता निर्धन स्थिति के थे। छः वर्ष की वय में पिता के आघातजनक अति कटु वचनों से संत्रस्त हो कर "सूर" ने घर का त्याग किया और चार कोस दूर एक गाँव के तालाब के किनारे पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे। ईश्वर प्रदत्त मधुर कंठ, काव्य-रचनाशक्ति, भविष्यज्ञान, शुकन भविष्यादि ज्ञान के कारण आसपास के लोगों में उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगी। जलपान एवं भोजनादि का प्रबन्ध भी हो गया। तदुपरान्त श्रद्धालुओं द्वारा झांझ, मृदंग, तंबूरादि सरंजाम भी एकत्र कर दिये जाने से अहर्निश भगवद्-भजनादि गुणगान-गान में मग्न हो कर प्रभुमय जीवन व्यतीत करने लगे। कहा जाता है कि वृक्ष के नीचे मुकाम करने के बाद वृक्षों से जो ज्ञान हुआ उसी को लक्ष्य बनाकर प्रथम निम्नलिखित पद का गान भक्त-मंडली को सुनाया—

मनरे बृक्षनको मत ले।
काटे ता पर क्रोध करे नहिं, औरन छाया दे ॥१॥
जो कोई वा पर पथर चलावे, ताहि को फल दे।
आप सिर पर धूप सहत है, औरन छाया दे ॥२॥

इस प्रकार के वैराग्यादि के पद-गान से सभी प्रसन्न होते थे। किन्तु संगीत शास्त्र की राग-रागनियों का गुरु-ज्ञान सूर को १८ वर्ष की आयु में भक्त नारदजी से

प्राप्त हुआ । स्वप्न में नारदजी ने भगवद्-यशोगान का कीर्तन श्रवण कराया। यही नहीं साक्षात् भगवद्-दर्शन होने का वर दे कर वे अंतर्धान हो गये। भक्त नारद की देव कोटि के संगीताचार्यों में गणना की गई है।* अतः नारदजी से स्वप्न द्वारा गुरु-ज्ञान प्राप्त होने से "सूर" को उसी क्षण से राग-रागिनीमय संगीत कला का सम्पूर्ण ज्ञान स्फुरित हुआ । तदतिरिक्त पूर्ण वैराग्य भी उत्पन्न हुआ। अंग षर एक ही वस्त्र धारण कर हाथ में लकुटी और जलपात्र ले कर भवगद्-दर्शन की आकांक्षा में उन्होंने श्रीकृष्ण के जन्मधाम मथुरा की ओर प्रयाण किया । मथुरा में कुछ दिन रह कर आगरा के पास "गौघाट" पर श्रीयमुनाजी के पवित्र तट पर पर्ण-कुटी बनाकर शिष्य-मंडली के साथ रहने लगे। यहाँ उनके बहुत शिष्य हुए और "सूर" "सूरस्वामी" के नाम से प्रसिद्ध हो गये।इनके विनय, विवेक, विरह, दीनता, वैराग्य एवं माहात्म्य-ज्ञान के पदों एवं असाधारण संगीत-साधना से आकर्षित होकर कवि, गायक तथा गुणीजनादि संपर्क साधने लगे और अपने-अपने अनुकूल ज्ञान प्राप्त करते हुए स्वयं को धन्य मानने लगे।

एक दिन सूर आनंदावेश में मग्न होकर भगवन्नाम गुनगुनाते हुए चलने लगे। तब एक कूएँ में गिरते हुए सूर की भगवान् श्री कृष्ण ने हाथ पकड़ कर रक्षा की। सूर ने प्रभु का हस्त परख लिया और जोरसे पकड़ने लगे तब क्षणमात्र दर्शन देकर अंतर्धान होते हुए प्रभु ने कहा कि कुछ दिनों में ही तुम्हें मेरी लीलाओं का दर्शन होगा ।

प्रभ के अंतर्धान होते ही सूर ने निम्न पद गान किया—

"सन्मुख आवत बोलत बैन। ना जानूं तिहि समेंजु मेरे सब तन श्रवन कि बैन ।
सुनहु "सूर" सह सत्य किधौं सुपनो जु भयो दिन रैन ।।

उस समय "सूर" ने कहा था——

"बांह छुड़ाये जात हो निबल जानिकें मोहि ।
हिरदें तें जब जाउगे, मर्द बदौं मैं तोहि ।।

इस प्रसंग के बाद ज्ञानांजन शलाका द्वारा प्रकाश देकर भगवल्लीला का साक्षात्कार कराने वाले गुरु का मिलन कब होगा ? इसी चिन्ता में बारह वर्ष बीत गये। तत्पश्चात् सूर के हृदय का तीव्र आर्तनाद प्रभु ने सुना । फलतः वि. सं. १५६६ (ई. स. १५१०) में श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु विद्यानगर से कनकाभिषेक एव आचार्यत्व का सम्मान प्राप्त करके परिक्रमा करते हुए व्रज में पधारे तब आपने गौघाट पर मुकाम किया । यह खबर सूरस्वामी को मिलते ही वे शिष्यों सहित आपके पास पहुँचे और प्रणाम किया।

---

* *संगीतरत्नाकर अ. १ श्लोक १६*

तत्पश्चात् श्रीमद्वल्लभाचार्यजी की आज्ञा होते ही सूर ने दीनता और विनय के दो पदों का "धनाश्री" राग में गान किया।[*]

(१) प्रभु हों सब पतितनको नायक ।

(२) प्रभु हों सब पतितन को टीको ।

ये पद सुनकर श्री वल्लभाचार्यजी प्रसन्न हुए और आपने भगवल्लीला का यशोगान गाने की आज्ञा की ।[†] तब सूर ने कहा कि भगवल्लीला तो मैं कुछ भी समझता नहीं हूँ। तत्पश्चात् सूर की इच्छानुसार आपने साम्प्रदायिक समर्पण दीक्षा दी और श्रीमद्भागवत दशमस्कंध की अनुक्रमणिका सुनाकर श्रीसुबोधिनीजी का ज्ञान सूर के हृदय में स्थापित किया। तब सूर में भगवल्लीला यश वर्णन करने का सामर्थ्य आया[‡] और सूर को नवधाभक्ति और प्रेमलक्षणा भक्ति सिद्ध हुई।

श्री वल्ल्लभाचार्यजी ने सूर को समय-समय पर श्रीनाथजी की कीर्तन-संगीत-सेवा करने की आज्ञा दी और पास के "पारासोली" ग्राम में रहने का प्रबन्ध भी करवा दिया। सूर नित्य प्रातः पारासोली से आकर मंगला से शयनपर्यंत की सेवा में ऋतु एवं समयानुसार रागों में कीर्तनों का गान करते हुए श्रीगोवर्धनधरण प्रभु को रिझाने लगे।

श्रीवल्लभाचार्यजी की शरण में आते ही सूर ने सर्वप्रथम मांगलिक राग "धनाश्री" के पश्चात् 'बिलावल' राग तथा अन्य मांगलिक राग 'देवगंधार' में पद-गान किया । पश्चात् श्रीनाथजी के दर्शन करते ही पुनः 'धनाश्री' राग ही प्रभु के सम्मुख गाया था । बाद में संध्या-दर्शन में समय के उपयुक्त राग "गोरी" में कीर्तन-गान सुनाया। पश्चात् सायं सेवा के पूर्ण होने पर पौढ़ने के समय "बिहागरा" राग में कीर्तन सुनाकर कीर्तन-सेवा की। यद्यपि श्रीनाथजी का मंदिर पूर्णतया सं. १५७६ में ही बन कर तैयार हुआ था किन्तु श्रीवल्लभाचार्यजी ने सूरदास को अपनी शरण आते ही श्रीनाथजी के मंदिर में संवत् १५७७ (ई. स. १५२१) में कीर्तनकार की सेवा के स्थान पर नियुक्त किया । सम्प्रदाय के इतिहास में यह भी बतलाया है कि उस मंदिर का अधिकांश भाग संवत् १५६४ में ही बन

---

[*] *उस समय धनाश्री राग गाने का समय होने से सूरने धनाश्री राग में ही दोनों पदों का गान किया। दूसरा हेतु यह भी है कि धनाश्री राग मांगलिक प्रसंग में ही प्रायः गाया जाता है। सूर के लिए गुरु-मिलन जैसा प्रथम मांगलिक प्रसंग अन्य कौनसा था ?*

[†] *"जीव भगवान सो बिछुर्यो, सो तबसे पतित तो भयो है; ताको बहुत कहा-कहनो, तासों भगवल्लीला गावो, जासों सुद्ध होय"*

प्राचीन वार्तारहस्य पृ. १२

[‡] *वही पृष्ठ १३*